शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मार्च : १९६४ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ११

मनुष्यभव की दुर्लभता

स्वरूप को बराबर समझे बिना तीन काल में उद्धार नहीं हो सकता। कोई 'गधा' कह दे तो उससे झगड़ने लगता है; परंतु जिस भाव में गधे के अनंत भव विद्यमान हैं, उस भाव का नाश नहीं करेगा तो उस भूल का फल भोगना पड़ेगा; इसलिये प्रति समय अपने परिणाम की जाँच कर। यहाँ प्रतीति पर भार है। जीव उल्टी प्रतीति करके पर में अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करे अथवा यथार्थ प्रतीतिपूर्वक सत्य को समझकर राग-द्वेष दूर करके वीतरागभाव करे; इसके अतिरिक्त वह अन्य कुछ नहीं कर सकता। इसलिये यदि सत्य स्वभाव को नहीं समझा तो जिसप्रकार समुद्र में फेंका हुआ मोती हाथ नहीं आता, उसीप्रकार चौरासी के चक्कर में पुनः मनुष्यभव प्राप्त होना दुर्लभ है। पैसा आदि बाह्य संयोग प्राप्त हों, उसमें सत्य प्रतीति की आवश्यकता नहीं है, वह तो पूर्व पुण्य के कारण प्राप्त हो जाते हैं, किंतु आत्मा को समझने में अनंत यथार्थ पुरुषार्थ की आवश्यकता है, क्योंकि वहाँ कर्म के कराने से कुछ नहीं होता।

(समयसार प्रवचन, भाग-१ में से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२२६]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षाशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) तीसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांत पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रंथ अवश्य पढ़नेयोग्य है, पत्र संख्या ९००, मूल्य लागत से बहुत कम मात्र ५) रखा गया है। पोस्टेज आदि अलग।

लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका (चतुर्थ आवृत्ति)

१८००० बुक छपकर बिक चुकी हैं, समाज में धर्म जिज्ञासा का यह नाप है। शास्त्राधार सहित संक्षेप में खास प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये यह उत्तम मार्ग दर्शक प्रवेशिका है। जैन जैनेतर सभी जिज्ञासुओं में नि:संकोच बांटने योग्य है। इंगलिश भाषा में भी अनुवाद कराने योग्य है। जिसमें अत्यंत स्पष्ट सुगम शैली से मूलभूत अति आवश्यकीय बातों का ज्ञान कराया गया है। बढ़िया कागज, छपाई, सुंदर आकार पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य-सिर्फ २५ नये पैसे, पोस्टेजादि अलग।

पता:—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मार्च : १९६४ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ११

स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ किये बिना परज्ञेयों में

तत्परतारूपी संसार का नाश नहीं होता

श्री प्रवचनसार के ऊपर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन,
दशलक्षण पर्व का तीसरा दिन, भाद्रपद सुदी ७; तारीख ६-९-६२।

यह चरणानुयोग चूलिका—मोक्षमार्ग अधिकार है। आत्मा ज्ञायकस्वभावी शुद्ध चिदानंद है, किंतु उसकी प्रगट अवस्था में अशुद्धतारूप भावबंध है, उससे मुक्त और अतीन्द्रिय आनंदयुक्त होने का उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और ज्ञान में एकाग्रता है—वह किसको होती है तथा किसप्रकार होती है, वह कहते हैं। जिसको सर्वज्ञ वीतराग कथित शास्त्र का ज्ञान है, वह अकर्ता ज्ञाता-स्वरूप में एकमेकपना की दृष्टि और लीनता कर सकता है। अंधेरे को टालना नहीं पड़ता, प्रकाश होते ही उसके प्रमाण में अंधेरा टलता ही है—ऐसी प्रथम तत्त्वज्ञान द्वारा दृष्टि-ज्ञान में यथार्थता होती है, पश्चात् ही चारित्र में यथार्थता अर्थात् वीतरागता स्वावलंबन के बलानुसार क्रम-क्रम से प्रगट होती है।

आगमज्ञान, पराश्रयरहित अकेले ज्ञायक में दृष्टि, उत्साह और सर्व विभाव से उपेक्षा करने का बताता है, उसका अनुभव नहीं करता, वह आगमज्ञान रहित ही है। आगमहीन के राग-द्वेष-मोह और जड़ कर्मों का नाश नहीं होता।

आत्मा वस्तुतः शुद्ध स्फटिक के समान है लेकिन वर्तमान दशा में अपने को भूलकर मैं पर का कर्ता, भोक्ता, स्वामी हूँ, शुभराग से लाभ होता है, पुण्य चाहिये, निमित्त चाहिये, पर पदार्थ इष्ट-अनिष्ट है, ऐसा मानते हैं, वे स्वभाव की महान हिंसा करनेवाले हैं। जड़कर्म के उदय से राग-द्वेष होता है और कर्म का नाश होवे तो धर्म होगा, ऐसा माननेवाले पराधीन दृष्टिवाले हैं, वे राग-द्वेष

करके भावबंधन चालू रखते हैं। इसप्रकार अनादिकाल से विपरीत पुरुषार्थ से नयी-नयी भ्रमणा से बँधा हुआ है, अशुद्धता को धारण करता है, वह संसारतत्त्व है।

बंधन के कारण को आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व सबसे महान पापरूपी आस्रव है। अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग ये मुख्य नहीं हैं, किंतु मिथ्यात्वमय भावबंध और भाव-आस्रव, वह संसारतत्त्व है; उसका कर्ता अज्ञानी जीव है।

चैतन्य शुद्ध आनंदरूप है, मोक्षस्वभावी है, उसको भूलकर शुभाशुभराग, दया, हिंसा की वृत्ति करने योग्य है, वह मेरा स्वभाव है, मैं उसका कर्ता हूँ, ऐसी राग में एकताबुद्धिवाला जीव राग की क्रिया और ज्ञानस्वभाव की क्रिया एक मानता है। इसलिये नवमीं ग्रैवेयक में जाये, ऐसा ऊँचे पुण्य करनेवाले द्रव्यलिंगी को भी संसारतत्त्व कहा है।

गोम्मटसार शास्त्र में मिथ्यादृष्टि को पापजीव कहा है। सबसे प्रथम टालने योग्य पाप मिथ्यात्व का है, उसका नाश और सम्यक्त्व की उत्पत्ति किस रीति से होती है, वह बात आगम में सर्वप्रथम कही है। व्यापारी नामाजमा उधार बराबर देखता है, नहीं तो दिवाला निकालता है, उसीप्रकार सर्वज्ञ वीतराग कौन है, तथा उन्होंने आगम में मेरे हित-अहित के लिये क्या कहा है, उसकी जाँच न करे तो चौरासी के अवतार में भ्रमण चालू रहता है। श्री तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि और उसके अनुसार रचे हुए शास्त्र को आगम कहते हैं।

आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता। पदार्थों के निश्चय के बिना अश्रद्धा का अमर्यादित क्लेश तथा चारित्र में चंचलता होने से स्वरूपानंदमय एकाग्रता नहीं होती; और एकाग्रता के बिना एक निज आत्मा के निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-वर्तनरूप प्रवर्तती शुद्धात्मप्रवृत्ति न होने से मुनिपना नहीं होता। इसलिये मोक्षार्थी का प्रधान कर्तव्य शब्दब्रह्मरूप आगम में प्रवीणता प्राप्त करना, यह है।

अब आगमहीन को स्वरूप लाभ की प्राप्ति से होनेयोग्य कर्मक्षयरूप मोक्ष नहीं होता, ऐसा कहते हैं—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥२३३॥
आगमहीनः श्रमणो नैवात्मानं परं विजानाति।
अविजानन्नर्थान् क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुः॥२३३॥

टीका—वास्तव में आगमज्ञान के बिना स्व-पर का विवेकज्ञान या परमात्मज्ञान नहीं होता; और उससे उसको मोहादि द्रव्यभाव कर्मों का या ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्मों का अभाव नहीं होता।

सर्वज्ञ कथित शास्त्र स्व-पर पदार्थ, तथा उनके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों काल स्वतंत्र हैं, ऐसा बताते हैं। मैं आत्मा कौन हूँ, देह, मन, वाणी का स्वरूप क्या है तथा सम्यग्दर्शन तथा पूर्णज्ञान, सुख की प्राप्ति कैसे होगी, उसका वर्णन शास्त्र में है।

छह जाति के द्रव्य, नवतत्त्व, मोक्षमार्ग, बंधमार्ग क्या है, हित-अहित, स्व-पर का भेदज्ञान तथा परमात्मा का ज्ञान, आगम, युक्ति, गुरुगम और स्वानुभव प्रमाण द्वारा प्राप्त करना चाहिये। संयोग तथा विकार रहित मैं ही परमात्मा शुद्ध हूँ, ऐसा शुद्धनय द्वारा स्वानुभव प्रत्यक्षसहित ज्ञान, आगम के अभ्यास बिना नहीं होता। जिसको सच्चा ज्ञान हुआ है, वह भी विशेष निर्मल ज्ञान के लिये आगम अभ्यास करता है। जिसने नयविभाग द्वारा आगमज्ञान प्राप्त नहीं किया, उसको स्वरूप में असावधानीरूप मोह का किंचित् भी अभाव नहीं होता; तथा ज्ञेयों में अच्छे-बुरे का भेद पाड़कर अटकनेवाला खंड-खंड ज्ञान नष्ट होकर, अखंड निर्मल ज्ञान नहीं होता।

चैतन्य का ज्ञान व्यापार है, वह पर के लक्ष्य से पराश्रय में खंड-खंडरूप बदलता है, उसको ज्ञप्तिपरिवर्तन कहते हैं। एक समय में सर्व को—लोकालोक को जानने का स्वभाव है, उसको भूलकर पर में इष्ट-अनिष्ट, राग-द्वेष-मोहभाव करके बदलता है, वह दोष है। शुभराग की क्रिया-शुभ-विकल्प भी तेरा स्वभाव नहीं है, तेरा सत्य स्वरूप नहीं है, इसलिये शुद्धात्मा में दृष्टि द्वारा सब पराश्रय छोड़, ऐसा अपनी भूल टालने के लिये आगम कहता है। आगमहीन को पूर्णज्ञान क्या है, अपूर्ण ज्ञान क्या है, ज्ञान में कारणविपरीतता, स्वरूपविपरीतता और भेदाभेदविपरीतता, ये तीन दोष हैं, उनका क्या स्वरूप है, उसका भी ज्ञान नहीं होता।

शरीर की क्रिया, वह आत्मा का कार्य नहीं है। शुभराग की क्रिया, वह आस्रवतत्त्व है, बंधन का कारण है, इसलिये वह आत्मा का कार्य नहीं है। ज्ञान की अवस्था जो परसन्मुखरूप से बदलती है—ज्ञान एकरूप स्वाश्रय में न रहकर ज्ञेयों में बारंबार पलटना, वह ज्ञप्तिपरिवर्तन है; वह परज्ञेयों की ओर ढलने का कार्य है, आत्मा का कार्य नहीं, क्योंकि वह आत्मस्वभाव नहीं है, विरुद्ध कार्य है; इससे निश्चित होता है कि आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। जिसका स्वभाव नित्य जानने का है, वह किसको नहीं जानेगा? एक समय में तीन काल-तीन लोकवर्ती सर्व पदार्थों के सर्वभावों को स्पष्टरूप से सर्वथा जानते हैं, तथापि उसमें थकान-खेद नहीं, किंतु स्वयं अक्षय अनंत ज्ञानसुखरूप

से ही परिणमन करता है, ऐसा तेरा सच्चा स्वरूप है, लेकिन अपने अपराध से विपरीत पुरुषार्थ सं संसारदशा को प्राप्त कर रहा है, ऐसा सर्वज्ञ के आगम में कहा है; कोई परद्रव्य जीव को भ्रमण कराता है, भूल कराता है, ऐसा माननेवाला जिनागम को नहीं जानता।

आगम तो-दु:ख से मुक्त होकर उसके स्थान में अविनाशी ज्ञान और सुखरूप होने के लिये (१) स्व-पर की भिन्नता बताता है अर्थात् जड़कर्म, पराश्रय अर्थात् रागादि तथा शरीर से तेरा स्वरूप भिन्न है, एकरूप पूर्ण ज्ञान, वही मैं हूँ, ऐसा अनुभव करने के लिये बताता है। (२) परमात्मस्वरूप वह तेरा सच्चा स्वरूप है, ऐसा बताता है। अनंत जीव संसार की दु:खदशा से मुक्त होकर परमात्मा हो गये; तू भी हो सकता है। (३) एक विषय को देखकर दूसरे को जानने के लिये ज्ञान खंड-खंडरूप से पलटता है, वह ज्ञप्तिपरिवर्तन है, वह दोष है, उसका अभाव होकर अखंड सर्वथा निर्मल ज्ञान किसप्रकार होता है, इस बात को आगम कहता है।

छह द्रव्यत्वस्वरूप विश्व है, उसमें अनंत सर्वद्रव्य ध्रुवरूप से (नित्य) कायम रहकर अवस्था में निरंतर उत्पन्न होना-बदलना (उत्पाद-व्यय) इसप्रकार निज कार्य स्वयं अपने में किया करते हैं। ये विश्व के तत्त्वों की दशा है। इसप्रकार सबकी योग्यतारूप शक्ति से नयी-नयी अवस्था का होना - उत्पन्न होना, पुरानी का जाना, इसका नाम जगत की व्यवस्था है। उसका आधार, उसका कर्ता वह प्रत्येक वस्तु तथा उसकी शक्तियाँ है, वे नित्य होने से एक द्रव्य को अपने कार्य के लिये दूसरे किसी आधार की या कर्ता की आवश्यकता नहीं है—ऐसी स्वतंत्र व्यवस्था से व्यवस्थित जगत है; इसप्रकार तीनों काल प्रत्येक वस्तु है, है और है; अपने से है, पर से नहीं है। है, उसको अथवा उसके कार्य को कोई ईश्वर उतपन्न करे, रक्षा करे, नाश करे-ऐसा पराधीन तत्त्व किसी भी काल में नहीं है। विश्व त्रिकाल है, तो उसको जाननेवाला त्रिकालज्ञ आत्मा है—इतना तो निश्चित किया जा सकता है, किंतु जो है, वह किसी काल में नहीं था और किसी ने नया उत्पन्न किया, ऐसा साबित नहीं होता। त्रिकालज्ञ में प्रथम भूतज्ञ अर्थात् भूतकाल में जगत ऐसा ही था, ऐसा जाना तो उसके अनंत काल पहले भी उसका जाननेवाला था। भूतज्ञ रचनेवाला कैसे हो सकेगा? जगत में पहले कुछ नहीं था, ऐसा माननेवाले के मत में सर्वज्ञ साबित नहीं होते; इसलिये सर्वज्ञ परमेश्वर सबको प्रत्यक्ष जाननेवाला है, और यह आत्मा भी सबको साक्षात् जाननेवाला हो सकता है, किंतु कोई किसी का कर्ता है, मालिक है, ऐसा साबित नहीं होता। इसीप्रकार से वर्तमान में जो वस्तु देखने में आती है, उसकी मूल शक्ति के ऊपर दृष्टि रखकर देखो तो उनमें जो परिवर्तन शक्ति

है, वह स्वयं उत्पाद-व्ययरूप हुआ करती है, और भविष्य में भी सर्व प्रत्येक वस्तु उसकी सर्व शक्तियाँ सहित कायम रहकर उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप से सत् रहनेवाली हैं। ऐसे विश्व नियम को जानकर, पर में इष्ट अनिष्ट (अनुकूल-प्रतिकूल) मान्यतारूप दोष नहीं होने के लिये त्रिकाल निर्दोष पूर्ण ज्ञानानंदस्वभाव के ऊपर दृष्टि, ज्ञान और एकाग्रता करने के लिये कहा है। सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान, श्रद्धान और मैं ज्ञाता ही हूँ, ऐसा अनुभव करने के लिये आगम में फरमाया है।

पूर्ण स्वभाव के आश्रय से, वर्तमान अपूर्ण ज्ञान में पूर्ण और त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ की सत्ता का निश्चय हो सकता है। निर्मल विज्ञानघनस्वभाव के लक्ष्य से, आंशिक दोष और आवरण का नाश (-हानि) तथा अमुक अंश में निर्दोषता और ज्ञान-सुख के विकास की वृद्धि होती हुई देखी जा सकती है; तो उसके ऊपर से, किसी को सर्व प्रकार से पूर्ण ज्ञान और सुखदशा की प्राप्ति हो सकती है ऐसा आगम, युक्ति और स्वानुभव से सर्वज्ञ परमात्मा का स्वरूप जानने में आ सकता है, उसमें ऐसा आया कि परमात्मा त्रिकालवेत्ता है, उनके ज्ञान का विषय (ज्ञेय) त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थ है; किंतु उसका कोई रचयिता है, ऐसा नहीं आया। अनंतानंत काल बीत गया, उस भूतकाल में जिसप्रकार से जगत था, उसप्रकार ज्ञान में जानने में आया, सर्वज्ञ परमात्मा हुए, वे उनके भी ज्ञाता हैं, किसी के कर्ता हैं, ऐसा नहीं आया। भविष्य में विश्व की जैसी स्थिति रहेगी, वैसी ज्ञान में आती है; उत्पन्न करेगा, ऐसा ज्ञान में नहीं आता। तो बस! भूत, वर्तमान और भविष्यकाल में वर्तनेवाले सर्व पदार्थों को सब प्रकार से जाने, लेकिन पर का कुछ भी करे नहीं—ऐसी मर्यादा है। ऐसा निश्चय करे तो पराधीन मानने की पराश्रयदृष्टि छूटकर परमात्मस्वरूप का निर्णय होता है। मैं सर्वज्ञ परमात्मा के जैसा हूँ—इसमें दृष्टि और एकाग्रता करे तो स्वयं साक्षात् परमात्मा बन सकता है। पूर्ण दशा प्रगट होने पर एक साथ एक समय में सबको जानने की शक्तिवाला केवलज्ञान प्राप्त होता है। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा त्रिकाल परमात्मस्वभावी है और ऐसा हो सकता है अर्थात् ऐसे अपने उत्कृष्ट स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा स्पष्टरूप से जिनागम बताता है; किंतु आगमहीन ऐसा यह जगत् अनादिकाल से भवसरित के प्रवाह को प्रवाहित करनेवाले महा मोहरूपी मल से मलिन है। चारों गतियों में ८४ लाख योनि (उत्पन्न होने के मलिन स्थान) है, वे आत्मसुख से विरुद्ध दशाएँ हैं।

जिसप्रकार पानी का स्वभाव शीतल है, किंतु वर्तमान में अग्नि के संयोग से उष्ण है—वह योग्यता उसका क्षणिक स्वभाव होने से टल सकती है, वैसे भगवान आत्मा शक्तिरूप से त्रिकाल शुद्ध और पूर्ण ज्ञान-पूर्ण सुखस्वरूप ही है, उसमें किसी समय हीनाधिकता नहीं, किंतु प्रगट दशा

में अपनी भूल के कारण मोह, राग-द्वेष के कारण मलिन हुआ करता है—उसका कर्ता कोई अन्य नहीं है। जीव का अपना दोष क्यों है कि जैसे धतूरा पिया हुआ मनुष्य श्वेत वस्तु को पीलीरूप से देखता है, उसप्रकार अपने को नित्य ज्ञायकरूप से नहीं माननेवाला—जो कि स्वयं जानता तो है, स्व-पर का निश्चय करानेवाले जिनागम का उपदेश मिलता तो है, यदि सत्य-असत्य, हित-अहित का निश्चय करे तो उसमें वह निमित्तरूप से है, किंतु अपने अविवेक के कारण—[सत्यार्थ आगम के उपदेशपूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण] शरीर, जड़ इंद्रियाँ, रागादि तथा परसन्मुख ऐसा इंद्रियज्ञान, वह मैं हूँ, ऐसा मानता है; ऐसा मोहभाव से अपने को पर से भिन्न, निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वभावरूप से जानता, मानता नहीं है। अनादिरूढ़ व्यवहार में (पराश्रय में) मूढ़ और प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय में अनारूढ़ होने के कारण अविवेक से जानते हैं कि मैं शरीर हूँ, शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ, शरीर के और बाहर के काम मेरी व्यवस्था शक्ति से होते हैं, तथा उनके कारण मुझमें फेरफार हो सकता है, जड़ की क्रिया और शुभराग की क्रिया से मोक्षमार्ग मानते हैं, इसलिये उसमें रुचि करते हैं; इसप्रकार अपने को पर से एकमेक मानते हैं।

संयोग बलवान है, काल बलवान है, जड़कर्म-मोहकर्म शक्तिशाली है, वह जीव को भ्रमण कराता है—ऐसा माननेवाला अविवेकी है। जिसके कारण अपने को लाभ मानता है, उसको अपना माने बिना नहीं रहेगा, तथा उनमें राग करने योग्य है, ऐसा भी माने बिना नहीं रहेगा, इसीप्रकार से जिसको प्रतिकूल, अनिष्ट, नुकसान करनेवाला माने, उसके प्रति द्वेष करने योग्य है, ऐसी मान्यता तथा भावना किये बिना नहीं रहेगा।

परवस्तु मेरी इच्छा के अनुसार परिणमन करे; पर से भला-बुरा होना मानना, इत्यादि प्रकार से पर को अपना मानना; अपने सच्चे स्वरूप को भूल जाना—इसका नाम मोह द्वारा मलिन होना है, उससे मुक्त होने का उपाय सर्वज्ञ कथित आगम बतलाता है। अपने ज्ञान का व्यापार-ज्ञान की पर्याय स्व-पर को जानने के लिये है, ऐसा न मानकर पुण्य-पाप, दया-हिंसा आदि राग-द्वेष के व्यापार को ज्ञान में मिश्रित करके रागादि (-क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, काम-भोग की वासना) करने योग्य है, ऐसा मानता है, तथा जिसको करने योग्य मानता है, उसको अपना माने बिना नहीं रहेगा; इसप्रकार अविवेकी जीव को यह स्व है, यह मेरे हित तथा अहित का कारण है, और पुण्य-पाप तथा मिथ्या अभिप्राय दुःखदायक है, अहितकर है, मेरे स्वभाव से बिल्कुल विरुद्ध है, पर है - ऐसा भेदविज्ञान होता ही नहीं। इसलिये भले ही वह शास्त्रों

के शब्द जानता हो किंतु राग मेरा कार्य है, ऐसा मानता ही है।

शास्त्र कहता है कि रागादि वे उत्पन्नध्वंसी हैं, टल जाता है, वह तेरा नहीं है, रागादि आस्रव भाव तुझसे भिन्न है। त्रिकाल ज्ञान वस्तु आत्मा है, वह देह और राग से भिन्न है, अभी तभी भिन्न स्वरूप से प्रकाशित हो रहा है, ऐसा निर्णय कर। पर से भिन्न, शुभाशुभराग से भिन्न और नित्य ज्ञायकस्वभाव से अभिन्न परिपूर्ण हूँ—ऐसी दृष्टि कर, तो विभाव की दृष्टि छूटकर विषमता गौण हो जाती है। अंतर्मुखदृष्टि से देखने पर वर्तमान में स्व की ओर झुकी हुई पर्याय से भी रागादि भिन्न है—ऐसा अनुभव में आता है, और इसप्रकार भेदज्ञान का अभ्यास करने की तथा स्वलक्ष्य से वीतरागता प्रगट करने की आगम की आज्ञा है।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, वे जीव की भूल से होनेवाले श्रद्धा, चारित्र और योगगुण की अशुद्ध दशाएँ हैं, वे चैतन्यस्वभाव से भिन्न हैं, विरुद्ध हैं, पर हैं। शुभराग, भगवान की भक्ति, व्यवहाररत्नत्रय भी पर है, आस्रवतत्त्व है, चैतन्य की जागृति को रोकनेवाला वैरी है; इसलिये किसी भी प्रकार का राग, जीवतत्त्व नहीं है। इसप्रकार प्रथम से ही निर्णय करने के लिये आगम में कहा है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि प्रथम से ही ऐसी बात करने से लोग भ्रष्ट हो जायेंगे; प्रथम तो पुण्य करने के लिये कहो। तो इसका अर्थ ऐसा है कि प्रथम असत्य से लाभ बताओ, मिथ्या अभिप्राय को दृढ़ करना; किंतु यह उपदेश तो सर्वज्ञदेव कथित वीतरागमार्ग का विरोध करनेवाला है।

प्रथम से ही सत्य का स्वीकार करनेवाली श्रद्धा चाहिये। समस्त जीवों के लिये सत्य श्रद्धा ही प्रथम से ही हितकर हो सकती है; समझ का उपाय दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता। समझ नहीं सके, विशेष पुरुषार्थ न कर सके, उसको पाप करने का उपदेश नहीं है, किंतु तत्त्वनिर्णय के लिये बारम्बार उसका ही अभ्यास करना चाहिये। रागी जीव को उसके योग्य शुभ अथवा अशुभराग उसके काल में आये बिना नहीं रहता।

'एक बार वंदे जो कोई, ताहि नरक पशु गति नहिं होई'

ऐसा सम्मेदशिखरजी की यात्रा का माहात्म्य बताने के लिये स्थूल व्यवहार का कथन है, किंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि शुभराग करते-करते सच्चा ज्ञान और वीतरागता प्रगट हो जायेगी। राग तो चैतन्यस्वरूप से भिन्न है, विरुद्ध भाव है; जो जीव, शुभराग से लाभ मानता है, वह अपने को रागादि से भिन्न नहीं मानता।

इसप्रकार स्व-पर के विवेक ज्ञान से तथा परमात्मज्ञान से शून्य है, उसको (१) जड़कर्म, पुण्य-पाप, राग-द्वेष-मोह के साथ एकता का अनुभव होने के कारण वध्य-घातकपना के विवेक का अभाव होने से, शुभराग करने योग्य है, हितकर है, मात्र ज्ञाता रहना उसमें क्या है—ऐसा अपने को भूलकर, रागादि को अपने करता होने से, रागादि आत्मा के लिये घातक है, उनके वश होने से आत्मा की जागृति तथा शांति का नाश होता है, ऐसा भेद जानता ही नहीं। प्रथम निमित्त चाहिये, शुभ व्यवहार चाहिये—ऐसा आस्रव (अशुद्धता) और संयोग की भावना से ज्ञाता स्वभाव का तिरस्कार करता है, इसलिये उसके किसी काल में मोहादि द्रव्यकर्म-भावकर्म (राग-द्वेष) का किंचित् क्षय नहीं होता। (२) तथा ज्ञेयनिष्ठपने पर की ओर ढलता हुआ ज्ञान प्रत्येक पर विषयों के उतपाद-व्यय में इष्ट-अनिष्टपना मानता है—इसप्रकार परवस्तु तथा राग में प्रीति-अप्रीतिरूप से वर्तता हुआ वह जीव ज्ञेयनिष्ठ रहा, परमात्मस्वभाव निष्ठ न रहा; इसलिये बाहर से भला-बुरा मानने के लिये रुक गया। अनुकूलता की आशा तथा प्रतिकूलता का भय किया ही करता है, इससे उसको मैं पर से भिन्न, संयोग और राग की अपेक्षारहित, ज्ञायक परमात्मा हूँ, ऐसी दृष्टि तथा ऐसा अनुभव करने की धीरज नहीं होती।

सूक्ष्म बात है—ज्ञेयार्थ परिणमन, ज्ञेयनिष्ठता कैसे टलेगी ? कि उस दोष को निर्दोष स्वभाव के लक्ष्य से ऐसा जान कि मेरा स्वरूप ऐसा नहीं है, पूर्ण ज्ञानस्वरूप वही मैं हूँ, उसमें ढलकर स्वसन्मुख ज्ञाता हूँ, परमात्मा हूँ—ऐसे अनुभव की ताकत व्यवहार की रुचिवाले जीव में जागृत नहीं होती। वह तो पराश्रय की श्रद्धा द्वारा पर पदार्थों के प्रवाह में बहता है, लोकरूढ़ि में लग जाता है। ज्ञान में अनेक ज्ञेयों की पर्यायें पलटती हुई देखकर उनके साथ एकताबुद्धि करता है, इष्ट-अनिष्ट मानता है, इसलिये भ्रमण करता है। अपना ज्ञायकस्वभाव स्वयं भगवान है, उसमें निःशंकता से रुचि, एकमेकपने की दृष्टि और स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ किये बिना ज्ञप्ति परिवर्तनरूप, ज्ञेयों में तत्परतारूप संसारभाव का नाश नहीं होता। शास्त्र कहता है कि शुभराग भी परज्ञेय है, ज्ञेयों में तत्परता छोड़, ज्ञायक में तत्परता कर अर्थात् पर से भिन्नता और स्वभाव से एकता कर, स्वसन्मुख हो; उस एक ही अभ्यास से कर्म क्षय होगा; इसलिये मुमुक्षुओं ने सर्व प्रकार से शास्त्र का अभ्यास भावज्ञान द्वारा करना चाहिये।

सर्वज्ञ वीतराग कथित द्रव्यों के

कारण-कार्यभावों का निरूपण

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा-लोकानुप्रेक्षा अधिकार)

पुव्व परिणाम जुत्तं कारण भावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तर परिणाम जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥२२२॥

अर्थ—पूर्व परिणामसहित द्रव्य है, वह कारणरूप है तथा उत्तर परिणामसहित द्रव्य है, वह नियम से कार्यरूप है।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्य में हर समय परिणमन होता रहता है, उसे किसी की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। पूर्वक्षणवर्ती द्रव्य स्वयं ही कारण बनता है तथा उत्तर क्षणवर्ती द्रव्य, कार्यरूप होता है। जैसे लकड़ी जलकर कोयला और कोयला जलकर राख होती है, उसमें लकड़ी व्ययरूप कारण है और कोयला कार्य है तथा कोयला व्ययरूप कारण है और राख कार्य है, आप्तमीमांसा में भगवान समंतभद्राचार्य ने कहा है कि 'कारण का विनाश ही कार्य का उत्पाद है;' पहली पर्याय नष्ट होते ही दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है। इसलिये पूर्व पर्यायसहित द्रव्य, उत्तर पर्यायसहित द्रव्य का कारण है और उत्तर पर्यायसहित द्रव्य, कार्य है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य में कारण-कायभाव की परम्परा जानना॥२२२॥

अब तीनों काल के वस्तु के कारण-कार्य का निश्चय करते है:—

कारण कज्ज विसेसा तिस्सु वि कालेसु होंति वत्थूणं।
एक्के क्कम्मि य समये पुव्वुत्तर भाव भासिज॥२२३॥

अर्थ—वस्तु के पूर्व और उत्तर (प्रारम्भ के और अंत के) परिणाम को प्राप्त करके (अपने परिणाम के कारण) त्रिकाल प्रत्येक समय में प्रत्येक वस्तु को कारण-कार्य भाव होता है।

भावार्थ—वर्तमान समय में जो पर्याय है, वह पूर्व समयसहित वस्तु का कार्य है, इसीप्रकार सर्व पर्याय जानना।

इसप्रकार तीनों काल प्रत्येक द्रव्य में कारण-कार्य की परंपरा चलती ही रहती है। जो

पर्याय अपनी पूर्व अवस्था का कार्य होता है, वह अपनी उत्तर पर्याय का कारण होती है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपना कारण और स्वयं ही अपना कार्य होता है।

अब प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मस्वरूप है, ऐसा निर्णय करते हैं:—

सन्ति अणंताणंता तीसु वि कालेसु सव्व दव्वाणि।
सव्वं पि अणेयंतं तत्तो भणिदं जिणिंदेहीं॥२२४॥

अर्थः—सर्व द्रव्य हैं, वे तीनों काल में अनंतानंत हैं, अनंत पर्यायों सहित हैं; इसलिये श्री जिनेन्द्रदेव ने सर्व वस्तुओं को अनेकांत अर्थात् अनंत धर्मस्वरूप कहा है।

भावार्थः—विश्व अर्थात् छह जाति के छह द्रव्य; उनमें जीव अनंत हैं, पुद्गलद्रव्य अनंतानंत हैं, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक ही हैं, कालद्रव्य (कालाणु द्रव्य) असंख्यात हैं। उनमें से कोई बढ़ते-घटते नहीं हैं। तीनों काल द्रव्य अनंतानंत हैं और जिनेन्द्रदेव ने उन सबको (प्रत्येक को) अनंत धर्मात्मक कहा है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप से ही है, परस्वरूप से नहीं है; इसलिये प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने अनंत गुणों की अनंत पर्यायें अनंत धर्मसहित उत्पन्न होती हैं और उसी समय पूर्व पर्यायें नष्ट होती हैं। इसप्रकार अनेक है, तथापि द्रव्य तो नित्य अपने गुण-पर्यायों से एकरूप ध्रुव रहता है।

द्रव्य में पर्यायों का प्रवाह अनंतानंत होने पर भी द्रव्य अनंतानंत शक्तिरूप रहता है, किसी भी प्रकार से उसकी अनंतानंत शक्ति में बाधा नहीं आती। न तो पर्यायों का कभी अंत आयेगा और न द्रव्य का अंत आयेगा। द्रव्य में जो जितनी शक्तियाँ हैं, वे अपनेरूप से हैं और पररूप से नहीं हैं, पर के आधार से नहीं हैं; इसलिये वास्तव में पर के कारण, द्रव्य की कोई भी शक्ति नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से है तथा परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नहीं है।

प्रत्येक वस्तु स्वयं ही स्वतंत्ररूप से ध्रुव रहकर अपने अनंत धर्मों की मर्यादा में रहती है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप वास्तव में अनंत धर्मात्मक होने से जैनधर्म में उसको अनेकांत कहा है। जैनधर्म का कथन कहो अथवा वस्तुस्वरूप कहो, दोनों एक ही हैं।

सत् द्रव्य का लक्षण है; असत् या अभाव नामक कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, किंतु जो अपने से सत् है वही दूसरी दृष्टि से देखने पर से असत् है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय नित्य परद्रव्य से, परद्रव्य के गुण और पर्याय की सत्ता से नास्तिरूप (अभावरूप) देखने में आता है। ऐसा होने से न तो मात्र कोई वस्तु सत् है और न कोई वस्तु मात्र असत् है।

यदि वस्तुएँ इस मर्यादा का उल्लंघन करें तो समस्त वस्तुओं के सर्वरूप का नाश हो जाये, लेकिन ऐसा कभी नहीं होता।

यह नियम बतलाता है कि कोई वस्तु परवस्तु के किसी भी कार्य को किसी प्रकार से नहीं कर सकती, यदि ऐसा न माना जाये तो-तीनों काल प्रत्येक वस्तुस्वरूप की अपेक्षा से ही सत् है तथा परस्वरूप की अपेक्षा से ही असत् (-पर से नास्तिरूप, पर की अपेक्षा से न होने रूप) है—यह अनेकांत सिद्धांत टूट जायेगा।

इससे सिद्ध हुआ कि परद्रव्य, उसका कोई भी गुण या पर्याय किसी परद्रव्य का कुछ भी कार्य नहीं कर सकते।

फिर भी निमित्त जो कि परद्रव्य है, उसे उससे भिन्न परद्रव्य की पर्याय का कर्ता अथवा निमित्तकर्ता कहा जाता है, उसका क्या कारण है ? उसका स्पष्टीकरण भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने श्री समयसार गाथा १०५ में किया है। वह गाथा तथा उसकी टीका निम्न प्रकार है:—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयार मत्तेण॥१०५॥
जीव हेतुभूत हुआ अरे! परिणाम देख जु बंध का।
उपचार मात्र कहाय यों यह कर्म आत्मा ने किया॥१०५॥

अर्थ—जीव निमित्तभूत होने पर, कर्म बंध का परिणाम होता देखकर, 'जीव ने कर्म किया' ऐसा उपचारमात्र से कहा जाता है।

''**टीका**—इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म को निमित्तभूत न होने पर भी, अनादि अज्ञान के कारण, पौद्गलिक कर्म को निमित्तरूप होनेवाले ऐसे अज्ञान भावरूप परिणमित होने पर निमित्तभूत होने से, पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है, इसलिये 'पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया' ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट, विकल्पपरायण अज्ञानियों का विकल्प है; वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।''

यह गाथा स्पष्टरूप से नीचे के नियमों को सिद्ध करती है:—

(१) जीव को पुद्गलकर्म का कर्ता कहना, वह उपचारमात्र है।

(२) इस उपचार का कारण यह है कि जब-जब कर्मबंध होता है, तब-तब वह अज्ञानी जीव निमित्तभूत बनता है।

(३) उपचारमात्र कहो या व्यवहारभाव कहो—दोनों एक ही हैं।

(४) व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य के कारण-कार्य को किसी के किसी में मिलाकर निरूपण करता है। इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है, जिससे उसका त्याग करना।

(५) तथा निश्चयनय उसी का (वस्तुस्वरूप का) यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना।

यह गाथा और उसकी टीका शांतभाव से ध्यान में ली जाये तो निमित्तकर्तापना मात्र उपचार ही है, ऐसा अनंत ज्ञानी पुरुष कहते हैं, ऐसा निश्चय होता है। समयसार गाथा १०६ में यह उपचार किसप्रकार है, सो दृष्टांत द्वारा कहते हैं:—

जोधेहिं कदे जुद्धे रायेण कदंति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण॥१०६॥
योद्धा करें जहँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहैं।
त्यों जीव ने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहार से॥१०६॥

अर्थ—योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर, 'राजा ने युद्ध किया' ऐसा लोग (व्यवहार से) कहते हैं, उसीप्रकार 'ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किया' ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

टीका—जैसे युद्ध परिणाम में स्वयं परिणमित योद्धाओं द्वारा युद्ध किये जाने पर, युद्ध परिणाम में स्वयं परिणमित न होनेवाले राजा में ऐसा उपचार किया जाता है कि 'राजा ने युद्ध किया', यह परमार्थ से नहीं है; इसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमित पुद्गल द्रव्य के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर, ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमित न होनेवाले आत्मा में जो यह उपचार किया जाता है कि 'आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किये,' वह परमार्थ नहीं है।

इस गाथा में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 'उपचार' को 'व्यवहार' कहा है, और भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने 'वह उपचार है तथा परमार्थ नहीं'-ऐसा दृष्टांत और सिद्धांत दोनों में कहा है। तत्पश्चात् गाथा १०७ में उपरोक्त कारणों से क्या निश्चित हुआ वह निम्नोक्त शब्दों में कहते हैं:—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणाम एदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं॥१०७॥

उपजावता, प्रणामावता, ग्रहता, अवरु बांधे, करे।
पुद्गल दरब को आतमा—व्यवहारनय वक्तव्य है॥१०७॥

अर्थ—आत्मा, पुद्गलद्रव्य को उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है—यह व्यवहारनय का कथन है।

टीका—यह आत्मा वास्तव में, व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक (-पुद्गलद्रव्यस्वरूप) कर्म को ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता, और न उसे करता है, न बाँधता है; तथा व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने पर भी, 'प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है' इत्यादिरूप विकल्प वास्तव में उपचार है।

भावार्थ—व्याप्यव्यापकभाव के बिना कर्तृत्वकर्मत्व कहना, सो उपचार है; इसलिये आत्मा, पुद्गलद्रव्य को ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, इत्यादि कहना, सो उपचार है।

इस गाथा में भी निमित्तकर्तापना व्यवहारकर्तापना है, ऐसा कहा है, और वह 'वास्तव में उपचार है' ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है।

इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये यह उपचार कैसे है? वह दृष्टांत देकर गाथा १०८ में कहा है जो निम्न प्रकार है:—

यथा राजा व्यवहारात् दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः।
तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः॥१०८॥

अर्थः—जैसे राजा को प्रजा के दोष और गुणों का उत्पन्न करनेवाला व्यवहार से कहा है, उसीप्रकार जीव को पुद्गलद्रव्य के द्रव्य-गुणों का (पर्याय का) उत्पन्न करनेवाला व्यवहार से कहा गया है॥१०८॥

टीका—जैसे प्रजा के गुण-दोषों में और प्रजा में व्याप्यव्यापकभाव होने से स्व-भाव से ही (प्रजा के अपने भाव से ही) उन गुण-दोषों की उत्पत्ति होने पर भी—यद्यपि उन गुण-दोषों में और राजा में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है तथापि—यह उपचार से कहा जाता है कि 'उनका उत्पादक राजा है;' इसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों में और पुद्गलद्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव

होने से स्व-भाव से ही (पुद्गलद्रव्य के अपने भाव से ही) उन गुण दोषों की उत्पत्ति होने पर भी—यद्यपि गुण-दोषों में और जीव में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है तथापि—'उनका उत्पादक जीव है' ऐसा उपचार किया जाता है।

भावार्थ—जगत में कहा जाता है कि—'यथा राजा तथा प्रजा।' इस कहावत से प्रजा के गुण-दोषों का उत्पन्न करनेवाला राजा को कहा जाता है। उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों को उत्पन्न करनेवाला जीव को कहा जाता है। परमार्थदृष्टि से देखा जाये तो यह यथार्थ नहीं, किंतु उपचार है।

यहाँ टीका में निमित्तकर्ता के व्यवहार को उपचार कहने में आया है और भावार्थ में कहा है कि—परमार्थदृष्टि से देखने पर यह सत्य नहीं—उपचार है। ऊपर की चार गाथाओं में निमित्तकर्ता, वह वास्तविक दृष्टि से सचमुच कर्ता नहीं है, किंतु वास्तव में उपचारमात्र है—अर्थात् पं० श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५९-३७० पर शास्त्रों का अर्थ करने की जो विधि कही है, वह भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार ही है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति (पृष्ठ ३६९-३७० पर) निम्नानुसार कही है।

[शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति]

व्यवहारनय स्वद्रव्य—परद्रव्य को तथा उसके भावों को एवं कारण-कार्यादि को किसी के किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, अतः इसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसी को यथावत् निरूपण करता है, तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो, जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण ?

उत्तर—जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ इसीप्रकार है' ऐसा समझना चाहिये, तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लेकर कथन किया गया है, उसे 'ऐसा नहीं है किंतु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है' ऐसा जानना चाहिये; और इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किंतु दोनों नयों के व्याख्यान (कथन-विवेचन) को समान सत्यार्थ जानकर 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' इसप्रकार भ्रमरूप

प्रवर्तने से तो दोनों नयों का ग्रहण करना कहा नहीं है।

प्रश्न—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसकाव उपदेश क्यों दिया है? एकमात्र निश्चयनय का ही निरूपण करना चाहिये था?

उत्तर—ऐसा ही तर्क श्री समयसारजी में भी करते हुए यह उत्तर दिया है कि—जैसे किसी अनार्य-म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है, इसलिये व्यवहार का उपदेश है। और फिर इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि—इसप्रकार निश्चय को अंगीकार कराने के लिये व्यवहार के द्वारा उपदेश देते हैं, किंतु व्यवहारनय है, वह अंगीकार करनेयोग्य नहीं है।

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि निमित्तकर्ता, वह सच्चा कर्ता कदापि नहीं है, किंतु उसे संयोगरूप या वियोगरूप निमित्त से देखकर कर्ता कहना, सो उपचारमात्र है—ऐसा समझना।

और अज्ञानी जीव को ही निमित्तकर्तापने का उपचार लागू होता है, किंतु ज्ञानी को नहीं; ज्ञानी तो भेदविज्ञान द्वारा राग का ज्ञाता होने से उसको निमित्तकर्तापने का उपचार भी लागू नहीं होता। श्री समयसार गाथा १०० की टीका में यह स्पष्टरूप से बताया है।

श्री प्रवचनसार गाथा १२१ में भी आत्मा को द्रव्यकर्म का कर्ता कहना, वह उपचार से ही है— ऐसा निम्नोक्त शब्दों में कहा है।

'××और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता होने से द्रव्यकर्म का कर्ता भी उपचार से है।' संस्कृत में 'तथात्माचात्मपरिणाम कर्तृत्वाद्रव्यकर्म कर्ताप्युपचारात्' कहा है।

निमित्तकर्ता का कथन 'उपचारमात्र' मानना ही योग्य सुसंगत और परमसत्य है। अर्थात् अनेकांत सिद्धांत के प्रथम दो भंगों द्वारा सिद्ध हुआ कि निमित्तकर्ता, वह उपचार कथन है। किसी द्रव्य के परिणामरूप कार्य का कर्ता कभी दूसरा द्रव्य या उसकी पर्याय नहीं हो सकती। किंतु प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने कार्यरूप परिणमन करता है और अन्य नहीं, यह सच्चा अनेकांत सिद्धांत है, ऐसा समझना।

श्री प्रवचनसार गाथा १६२ में वही सिद्धांत निम्न शब्दों में कहते हैं—'आत्मा को परद्रव्यपने का अभाव है और इसलिये उसमें के परद्रव्य के कर्तापने का अभाव सिद्ध करते हैं।'

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोगगला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स॥१६२॥

अर्थ—मैं पुद्गलमय नहीं हूँ तथा मैंने पुद्गलों को पिंडरूप नहीं किया; इसलिये मैं देह नहीं हूँ तथा उस देह का कर्ता नहीं हूँ।

टीका—प्रथम तो जो इस प्रकारण से निर्धारित पुद्गलात्मक शरीर नाम का परद्रव्य—कि जिसमें वाणी तथा मन, ये दोनों समा जाते हैं—वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि अपुद्गलमय ऐसा मैं (मेरा) पुद्गलात्मक शरीररूप होने में विरोध है। और इसीप्रकार उसके (अर्थात् शरीर के) कारण द्वारा, कर्ता द्वारा कर्ता के प्रयोजन (प्रेरक) द्वारा या कर्ता के अनुमोदक द्वारा मैं शरीर का कर्ता नहीं हूँ क्योंकि अनेक परमाणु द्रव्यों के एकपिंड-पर्यायरूप परिणाम का अकर्ता ऐसा मैं (मेरा) और परमाणु द्रव्यों का एक पिंडपर्यायरूप परिणामात्मक शरीर के कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध है।

टीका में 'सर्वथा विरोध' शब्द ऐसा बतलाता है कि—निमित्तकर्ता को वास्तविक दृष्टि से कर्ता मानने में सर्वथा विरोध आता है।

निमित्त को वास्तव में कर्ता मानने से तो अनेकांत सिद्धांत के साथ सर्वथा विरोध आता है, क्योंकि निमित्त को कर्ता मानने से सप्तभंगी में से प्रथम दो भंग (स्वरूप से होना—पररूप से न होना) वास्तव में नहीं रहते, अर्थात् सप्तभंगी का एक भी भंग नहीं रहता।

सैद्धांतिक चर्चा

लेख नम्बर १०

३५३—**प्रश्न—४** (अ) अणुव्रत-महाव्रतरूप चारित्र जड़ क्रिया है या आध्यात्मिक क्रिया ?

(ब) अणुव्रत-महाव्रत का आचरण असंयत सम्यग्दृष्टि को हेय है या उपादेय ?

(क) महाव्रत धारण किये बिना शुद्धोपयोग हो सकता है या नहीं ?

(ड) ज्ञातादृष्टा किस गुणस्थानवर्ती जीव होता है ?

उत्तर—उत्तर देने से पहिले कुछ विवेचन की जरूरत है; अणुव्रत-महाव्रत क्या है ? यह प्रथम समझना चाहिये, वह शरीर की क्रिया नहीं है, वह जड़ की क्रिया नहीं है; क्रिया तीन प्रकार की है, (१) स्वभावी क्रिया, (२) विभावी क्रिया, (३) पुद्गल की क्रिया। इन तीनों में से अणुव्रत-महाव्रत, स्वभाव की क्रिया व पुद्गल की क्रिया नहीं है परन्तु यह विभावी क्रिया है। यह आध्यात्मिक क्रिया भी नहीं है, स्वाभावी क्रिया ही आध्यात्मिक क्रिया है। अणुव्रत और महाव्रत का स्वरूप चरणानुयोग का विषय है।

मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३९७ में लिखा है कि ''जो जीव, तत्त्व के ज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उनको यह सब आचरण अपने वीतरागभाव के अनुसार ही भासित होते हैं, **कि एकदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा और सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी मुनिदशा होती है क्योंकि इनके निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है। ऐसा जानकर तथा श्रावक व मुनिधर्म विशेष रूप से पहिचानकर अपने वीतरागभावों के अनुसार अपने योग्य धर्म का साधन करता है। वहाँ जितने अंश वीतरागता हो, उतना कार्यकारी समझता है और जितने अंशों में राग रहता है उसे हेय जानता है। संपूर्ण वीतरागता को परम धर्म मानता है, यह चरणानुयोग का प्रयोजन है।**''

इसप्रकार चरणानुयोग के शास्त्रों का अभ्यास करने से यह मालूम होता है कि भूमिका के अनुसार कषाय के अभावपूर्वक **अणुव्रतरूप शुभभाव श्रावक को पाँचवें गुणस्थान में, तथा महाव्रतरूप शुभभाव मुनि को छट्ठे गुणस्थान में आते हैं।** यह आस्रव भाव है। इस संबंध में

मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३६५ से ३६७ तक लिखा है कि, ''अब इनकी प्रवृत्ति विशेष रूप से बतालते हैं। अंतरंग में स्वयं निर्धारण करके यथावत् निश्चय व व्यवहाररूप दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को मानता है। **किंतु मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार का है।** जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग बतलाया है, वह तो निश्चय मोक्षमार्ग है और **जहाँ मोक्षमार्ग के निमित्त या सहचारी हो, उनको उपचार से मोक्षमार्ग बतलाया है, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सब जगह ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण निश्चय है और उपचार निरूपण व्यवहार है।** अत: निरूपण की अपेक्षा दो प्रकार का मोक्षमार्ग समझना चाहिये। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग है; **इसतरह दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है तथा निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानना भी भ्रम है।** क्योंकि निश्चय और व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध है। समयसारजी शास्त्र में ऐसा लिखा है कि '**ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो हु सुद्ध नओ**'

अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है, सत्यस्वरूप को निरूपण नहीं करता; किसी अपेक्षा उपचार से अन्यथा निरूपण करता है तथा शुद्धनय जो निश्चय है, वह भूतार्थ है, जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है। इसतरह इन दोनों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है और तू ऐसा मानता है कि—सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का जो अनुभव है, वह तो निश्चय है और व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति व्यवहार है। लेकिन तेरा यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि किसी द्रव्य का नाम निश्चय और किसी का नाम व्यवहार है, ऐसी बात नहीं है, एक ही द्रव्य के भाव का उसरूप ही निरूपण करना निश्चयनय है। उपचार से उस **द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावरूप निरूपण करना, वह व्यवहारनय है। जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टी के घड़ा कहना निश्चय है और घृत संयोग के उपचार से उसको घी का घड़ा कहना, वह व्यवहार है। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।**''

३५४—**प्रश्न**—व्यवहारमोक्षमार्ग, निश्चयमोक्षमार्ग का निमित्त है अर्थात् व्यवहार से साधक कहने में आता है, वह व्यवहारमोक्षमार्ग को उदासीन निमित्त किस शास्त्र में कहा है ?

उत्तर—श्री पुज्यपाद आचार्य इष्टोपदेश की ३५वीं गाथा में कहते हैं कि—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्त मात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥३५॥

अर्थ—अज्ञानी विशेष प्रकार के ज्ञान भाव को प्राप्त नहीं करता और विशेष ज्ञानी, अज्ञानपने को प्राप्त नहीं करता। **जिस गति को जिसप्रकार धर्मास्तिकाय निमित्त है, उसीप्रकार अन्य तो निमित्तमात्र है।**

श्री पंचास्तिकाय, जयसेनाचार्य कृत टीका, शीतलप्रसादजी, गाथा ९३ में पृष्ठ ३६५ में लिखा है कि, ''जैसे शुद्ध आत्मस्वरूप में जो ठहरना है, उसका कारण निश्चयनय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान है तथा व्यवहारनय से उसका कारण अरहंत, सिद्ध आदि पंचपरमेष्ठियों के गुणों का स्मरण है। तैसे जीव-पुद्गलों के ठहरने में निश्चयनय से उनका ही स्वभाव उनकी स्थिति के लिये उपादानकारण है, व्यवहारनय से अधर्मद्रव्य है। यह सूत्र का अर्थ है।

देखिये, यहाँ सम्यग्दृष्टि के व्यवहारमोक्षमार्ग को अधर्मास्तिकाय के समान उदासीन कारण कहा है।

३५५—**चरणानुयोग के शास्त्रों संबंधी स्पष्टता** श्री पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में गाथा २१२-२१३-२१४ में **शुभभाव को स्पष्टरूप से बंधरूप कहा है।** परंतु किसी शास्त्र में शुभभाव को भला कहा हो, उसको व्यवहारनय की अपेक्षा अर्थात् अशुभ की अपेक्षा जानना। उसका अर्थ वह बंधरूप नहीं है, ऐसा कभी भी नहीं करना चाहिये। जैसे दो झूठ बोलनेवाले बालकों में एक कम झूठ बोलता है, दूसरा ज्यादा झूठ बोलता है तो कम झूठ बोलनेवाले को अधिक झूठ बोलनेवाले की अपेक्षा अच्छा कहने में आता है, इसलिये उसे सत्यवादी नहीं कहा जा सकता। इसीप्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग को अर्थात् शुभभाव को भला कहा हो तो वह अशुभभाव की अपेक्षा या उससे हलके शुभभाव की अपेक्षा कहने में आता है। इसलिये शुभभाव, धर्मस्वरूप (संवर-निर्जरा स्वरूप) और आत्मा को धर्म के लिये लाभदायक हो, ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। देखिये, श्री प्रवचनसार जयसेनाचार्य, ज्ञेय अधिकार ३३वीं गाथा, (अमृतचंद्राचार्य कृत गाथा टीका १२४) टीका शीतलप्रसादजी ने पृष्ठ १४२ में लिखा है कि 'विषयानुरागरूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है, उसका फल अतिआकुलता को उत्पन्न करनेवाला नारक आदि का दुःख है। (२) **धर्मानुरागरूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है, उसका फल चक्रवर्ती आदि के पंचेन्द्रियों के भोगों का भोगना है। यद्यपि इस सुख को अशुद्धनिश्चयनय से सुख कहते हैं, तथापि यह आकुलता को उत्पन्न करनेवाला होने से शुद्ध निश्चयनय से दुःख ही है। (३) और रागादि रहित शुद्धोपयोग में परिणमनरूप कर्म है, उसका फल अनाकुलता को पैदा करनेवाला परमानंदमयी एकरूप सुखामृत का स्वाद है, इसप्रकार कर्मफलचेतना का स्वरूप जानना चाहिये।**

३५६—श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५५ से ३५७ तक निम्नानुसार लिखा है कि, ''विवेकी व्यापारी का प्रयोजन तो नफा है; सब विचार कर जिसप्रकार अधिक नफा हो, उसप्रकार कार्य

करता है। वैसे **ज्ञानी का प्रयोजन वीतरागभाव है, सब विचार कर जैसे वीतरागभाव अधिक हो, वैसा कार्य करना चाहिये। क्योंकि मूल धर्म वीतरागभाव है।** ××××कोई अणुव्रत-महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करता है और आचरण के अनुसार ही उसके परिणाम हैं, कोई माया-लोभादिक का अभिप्राय नहीं है, इनको धर्म समझकर मोक्ष के लिये इनका साधना करता है, स्वर्गादिक के भोगों की इच्छा नहीं रखता **परंतु तत्त्वज्ञान न होने से स्वयं तो समझता है कि मोक्ष का साधन करता हूँ, लेकिन मोक्ष के साधन को जानता भी नहीं, केवल स्वर्गादिक का ही साधन करता है; मिश्री को अमृत समझकर खाता है किंतु अमृत का गुण तो उसमें नहीं होता।** अपनी प्रतीति के अनुसार उसका फल नहीं होता, **फल तो साधन के अनुसार होता है।** शास्त्रों में ऐसा लिखा है **कि चारित्र के साथ जो सम्यक् पद है, वह अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिये है। इसलिये तत्त्वज्ञान होने पर जो चारित्र होता है, वह सम्यक्चारित्र कहलाता है,** जैसे कोई किसान बीज तो बोते नहीं और अन्य कार्य करे तो अन्न की प्राप्ति कैसे होगी, घासफूस ही होगा। वैसे ही यदि अज्ञानी **तत्त्वज्ञान का तो अभ्यास न करे और अन्य साधन करे तो मोक्ष प्राप्त कैसे होगा? देवादिक के पद ही मिलेंगे।** उसमें भी बहुत से जीव तो ऐसे हैं, जो तत्त्वादिक का **अच्छी तरह से नाम भी नहीं जानते और केवल व्रतादिक ही पालते हैं। कोई जीव पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का अयथार्थ साधन कर व्रतादिक पालते हैं, वे यद्यपि व्रतादिक का यथार्थ आचरण करते हैं तो भी यथार्थ श्रद्धान और यथार्थ ज्ञान के बिना सब आचरण मिथ्याचारित्र ही हैं।''**

यही समयसार के १४२वें कलश में कहा है कि मोक्ष से पराङ्मुख अत्यंत दुस्तर पंचाग्नितपन आदि कार्यों से यह जीव आप ही क्लेशित होवे तो होवो। अथवा कोई **जीव महाव्रत और तप के भार से चिरकाल पर्यंत क्षीण होते हुए क्लेश करता है तो करे। परंतु यह साक्षात् मोक्षस्वरूप सर्व रागरहित ज्ञानस्वभाव जो पद स्वयं अनुभव में आता है, वह ज्ञानगुण के बिना अन्य किसी प्रकार से उसे प्राप्त करने में वह किसी भी तरह समर्थ नहीं है।**

श्री पंचास्तिकाय के अंत में व्यवहाराभासवालों का कथन किया है, वहाँ **तेरह प्रकार का चारित्र होते हुए भी मोक्षमार्ग में उसका निषेध किया है।** तथा प्रवचनसार में आत्मज्ञान से शून्य संयम को निष्फल बनाया है। इन्हीं ग्रंथों में तथा परमात्मप्रकाश आदि अन्य ग्रंथों में इसी बात को लेकर जहाँ-तहाँ निरूपण किया है। इसलिये तत्त्वज्ञान होने पर ही आचरण कार्यकारी है।

यहाँ कोई समझेगा कि बाह्य में अणुव्रत, महाव्रतादि साधन करता है किंतु अंतरंग में वैसे परिणाम नहीं, अथवा स्वर्गादिक की वांछा से अणुव्रतादिक का साधन करता है लेकिन ऐसे साधन

से तो पापबंध होता है। द्रव्यलिंगी मुनि ऊपर नववें ग्रैवेयकपर्यंत जाता है, पंचपरावर्तन में उनको इकतीस सागर तक की देवायु की प्राप्ति अनंतबार होना लिखा है लेकिन ऐसा ऊँचा पद तो तभी पाता है, जब अंतरंग परिणामपूर्वक महाव्रत पालता है, मंदकषायी होता है। इसलोक और परलोक के भोगादिक की चाह नहीं होती, केवल धर्मबुद्धि से मोक्ष का अभिलाषी हो उनका साधन करता है। इसलिये द्रव्यलिंगी के स्थूल अन्यथापना तो नहीं है, सूक्ष्म अन्यथापना है, उसका प्रतिभास सम्यग्दृष्टि को होता है।''

३५७—(सत्शास्त्र का धर्मबुद्धिपूर्वक अभ्यास, वह सम्यग्दर्शन का कारण है)।

(१) सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

(२) सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना किसी भी जीव के सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यानादि नहीं होते; क्योंकि वह क्रिया प्रथम, पाँचवें गुणस्थान में शुभभावरूप से होती है।

(३) शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को होता है, किंतु अज्ञानी उससे धर्म होगा—हित होगा, ऐसा मानता है, और ज्ञानी की बुद्धि में **वह हेय होने से वह उसमें कदापि हितरूप धर्म का होना नहीं मानता।**

(४) इससे ऐसा नहीं समझना कि धर्मी को शुभभाव होता ही नहीं; **किंतु वह शुभभाव को धर्म अथवा उससे क्रमशः धर्म होगा, ऐसा नहीं मानता;** क्योंकि अनंत वीतरागदेवों ने उसे बंध का कारण कहा है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता; उसे परिणमित नहीं कर सकता; प्रेरणा नहीं कर सकता; लाभ-हानि नहीं कर सकता; उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता; उसकी सहायता या उपकार नहीं कर सकता; उसे मार या जिला नहीं सकता—ऐसी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की संपूर्ण स्वतंत्रता अनंत ज्ञानियों ने पुकार-पुकार कर कही है।

(६) जिनमत में ऐसी परिपाटी है कि **प्रथम सम्यक्त्व और फिर व्रतादि होते हैं।** अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है तथा **वह श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है; इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि बनना चाहिये।**

(७) पहले गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों को शास्त्राभ्यास, अध्ययन-चिंतवन-मनन, ज्ञानी पुरुषों का धर्मोपदेश-श्रवण, निरंतर उनका समागम, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दान, आदि शुभभाव होते हैं; किंतु पहले गुणस्थान में सच्चे व्रत, तप आदि नहीं होते।

ऊपरी दृष्टि से देखनेवालों को निम्नोक्त दो शंकायें होने की संभावना है।

[१] ऐसे कथन सुनने या पढ़ने से लोगों को अत्यंत हानि होना संभव है। [२] इस समय लोग जो कुछ व्रत, प्रत्याख्यान प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ करते हैं, उन्हें छोड़ देंगे। उसका स्पष्टीकरण यह है:—

सत्य से किसी भी जीव को हानि होगी, ऐसा कहना ही भूल है, अथवा असत् कथन से लोगों को लाभ मानने के बराबर है। सत् का श्रवण या अध्ययन करने से जीवों को कभी हानि हो ही नहीं सकती। व्रत, प्रत्याख्यान करनेवाले ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी—यह जानना आवश्यक है। यदि वे अज्ञानी हों तो उन्हें सच्चे व्रतादि होते ही नहीं, इसलिये उन्हें छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। यदि व्रत करनेवाले ज्ञानी होंगे तो छद्मस्थदशा में वे **व्रत का त्याग करके अशुभ में जायेंगे—ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है। परंतु ऐसा हो सकता है कि वे क्रमशः शुभभाव को टालकर शुद्धभाव की वृद्धि करें...** और वह तो लाभ का कारण है, हानि का नहीं। इसलिये सत्य कथन से किसी को हानि हो ही नहीं सकती।

३५८—**प्रश्न-४** (अ) अणुव्रत-महाव्रत चारित्र जड़ क्रिया है या आध्यात्मिक क्रिया?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि का अणुव्रत-महाव्रतरूप भाव, चारित्र नहीं है परंतु यह तो चारित्र का मल है। जड़ पुद्गल की क्रिया नहीं है, विभावी क्रिया है; यह आस्रव होने से आध्यात्मिक क्रिया नहीं है। निश्चय से उसे जड़स्वभावी कहने में आते हैं (देखो, समयसार गाथा ७२ की टीका)

प्रश्न—४ (ब) अणुव्रत, महाव्रत का आचरण असंयत सम्यग्दृष्टि को हेय है या उपादेय?

उत्तर—असंयत सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में अणुव्रत-महाव्रत हेयरूप है, उपादेयरूप है ही नहीं किंतु जब वह अपने पुरुषार्थ से पंचम गुणस्थान को प्राप्त करता है, तब श्रावक का अणुव्रतरूप शुभभाव होता ही है, शुभभाव औदयिकभाव होने से सम्यग्दृष्टि को हेय ही है; उपादेय नहीं है। ऐसा अनेकांतमयी वस्तुस्वरूप है। पंचाध्यायी में अणुव्रत और महाव्रतों को औदयिकभाव कहा है।

श्री समयसार गाथा ३ (अनुवादक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी) में पृष्ठ ५ पर लिखा है कि, "निश्चयरत्नत्रयस्वरूप ही जीव पदार्थ सर्वथा उपादेय, कार्यकारी और परमानंद प्रदायक है तथा इसके विरुद्ध जो यह कहना कि यह जीव ××××व्रती है सो सब अशुद्ध जीव का स्वरूप है। अतएव **हेय, अकार्यकारी और परमानंद नाशक है, इसलिये निज शुद्ध स्वरूप को ही ग्रहण करना कार्यकारी है।**"

३५९—**प्रश्न ४** (क) महाव्रत धारण किये बिना शुद्धोपयोग हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—प्रश्नकार का कहना है कि शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान के पहिले नहीं होता। यह बात झूठ है क्योंकि शुद्धोपयोग की शुरुआत चौथे गुणस्थान से होती है।

चौथे गुणस्थान में मिथ्यादृष्टिपने का अभाव होने पर मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी संबंधी ४१ प्रकृतियों का संवर निरंतर होता है। यह निश्चयसम्यग्दर्शन की महिमा है। प्रथम निर्विकल्प दशा होने पर सम्यग्दर्शन होता है। निर्विकल्पदशा कहो, शुद्धोपयोग कहो—दोनों एक ही बात है।

श्री प्रवचनसार ८०वीं गाथा में पृष्ठ ९१ में लिखा है कि, ''उसीप्रकार केवल आत्मा को जानने पर उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म क्रिया का विभाव क्षय को प्राप्त होता जाता है, **इसलिये निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है;** और इसप्रकार मणि की भाँति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है, ऐसे उस (चिन्मात्रभाव को प्राप्त) जीव के मोहांधकार निराश्रयता के कारण अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है। यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है। (यहाँ मोह का अर्थ दर्शनमोह होता है।)''

श्री प्रवचनसार गाथा १९४ में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि, ''जो ऐसा जानकर विशुद्ध आत्मा होता हुआ परमात्मा का ध्यान करता है, वह साकार हो या अनाकार, वह मोहदुर्ग्रंथि का क्षय करता है।'' श्री अमृतचंद्राचार्यजी ने इस गाथा की टीका में कहा है कि, ''साकार-अनाकार उपयोग वाले को-दोनों को अविशेषरूप से एकाग्र संचेतन की प्रसिद्धि होने से **अनादि संसार से बंधी हुई मोह दुर्ग्रंथि छूट जाती है।** इससे (यह कहा गया है कि) मोह ग्रंथिभेद (दर्शनमोहरूपी गाँठ का टूटना) **शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल है।**''

मोक्षमार्गप्रकाशक में पंडित टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में पृष्ठ ५१०-५११ में निम्नप्रकार लिखा है कि, ''प्रश्न, जो ऐसे अनुभव कौन गुणस्थान में कहे हैं ?

ताका समाधान—**चौथे ही से होय है** परंतु चौथे तो बहुत काल के अंतराल में होय है, ऊपर के गुणठाने शीघ्र-शीघ्र होय है।''

आत्मावलोकन पृष्ठ १६३ में लिखा है कि, ''स्वानुभव होते तब छद्मस्थी (छद्मस्थ) जीव के दर्शन, ज्ञानादि परिणामादि को **निर्विकल्प सम्यक्ता ऊपजै है। सो जघन्य ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के निर्विकल्प उपयोग सम्यक्ता जाननी।**''

आत्मावलोकन में ही १६४ पृष्ठ में लिखा है कि ''जघन्य सम्यग्दृष्टि के **सम्यक्ता**

सविकल्प-निर्विकल्प करि दोउ प्रकार होई है। तिसतैं जघन्य सम्यग्दृष्टि इनहूँ, दोनूं सम्यक्तास्यौं निर्बंध निरास्रव होई है।'' तथा आत्मावलोकन पृष्ठ १६५ में लिखा है कि ''जु **सम्यग्दृष्टि चौथे (गुणस्थान) का है तिसके तो स्व अनुभव की काल लघु अंतर्मुहूर्त ताईं रहे है,** अवल बहुत काल पीछे होई है, अवल तिसतै देशव्रती का अनुभव रहने का काल अंतर्मुहूर्त बड़ा है, अवल थोरेई काल पीछे-पीछे होई है। अवल सर्व विरति के स्व अनुभव दीर्घ अंतर्मुहूर्त ताईं रहै हैं।''

अनुभवप्रकाश में पृष्ठ ७३ पर लिखा है कि, ''तथापि एक स्वस्वादरूप अनुभवदशा मुख्य नाम जानना जो सम्यग्दृष्टि **चउथे (चतुर्थ गुणस्थान) का है तिसकै तो स्वानुभव का काल लघु अंतर्मुहूर्त ताईं रहै हैं,** (फिर) वह (स्वानुभव) बहुत काल पीछे होई है। तिसतैं (अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा) देशव्रती का स्वानुभव रहने का काल बड़ा है, और (स्वानुभव) थोरे ही काल पीछे होइ है। सर्व विरति के स्वानुभव दीर्घ अंतर्मुहूर्त ताईं रहै है।''

श्री प्रवचनसार जयसेनाचार्य कृत टीका (ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी कृत अनुवाद) गाथा ८६ (श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका की ८०वीं गाथा), पृष्ठ ३११ में लिखा है कि, ''इस तरह द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप अरहंत परमात्मा को पहले जानकर, फिर निश्चयनय से उसी द्रव्य-गुण-पर्याय को आगम की सारभूत जो अध्यात्मभाषा है, उसके द्वारा **अपने शुद्ध आत्मा की भावना के सन्मुख होकर अर्थात् विकल्पसहित स्वसंवेदनज्ञान में परिणमन करते हुए, तैसे ही आगम की भाषा से अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नाम के परिणाम विशेषों के बल से जो विशेषभाव दर्शनमोह के क्षय करने में समर्थ है, अपने आत्मा को जोड़ता है, उसके पीछे जब निर्विकल्प स्वरूप की प्राप्ति होती है, तब जैसे पर्यायरूप से** मोती के दाने, गुणरूप से सफेदी आदि अभेदनय से एक हाररूप ही मालूम होते हैं, तैसे पूर्व में कहे हुए द्रव्य-गुण-पर्याय अभेद नय से आत्मा ही है **इस तरह भावना करते-करते दर्शनमोह का अंधकार नष्ट हो जाता है।** ×××**भावार्थ** ×××**मोह के उपशम होने का भी यही प्रकार है।**''

पंडित बटेश्वर शास्त्री कृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका में पृष्ठ २६ पर लिखा है कि 'चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग कहा है।'

मोक्षपाहुड़ गाथा १०६ में पृष्ठ ३६० पर लिखा है कि, ''ऐसैं सर्व कर्म का अभावरूप मोक्ष होय है। **ताका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहे, तिनिकी प्रवृत्ति चौथे गुणस्थान सम्यक्त्व प्रगट होने तैं एकदेश कहिये।**''

इन सब आधारों से सिद्ध होता है कि समयग्दर्शन के योग्य शुद्धोपयोग की शुरआत चौथे गुणस्थान से ही होती है। यदि सम्यग्दृष्टि को निर्विकल्पदशा न हो तो उसको नियमसार गाथा १४९ में तथा छहढाला की तीसरी ढाल में जघन्य अंतरात्मा क्यों कहा ?

नियमसार गाथा १४९ में पृष्ठ ३०१ पर लिखा है कि "अंतरात्मा के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे (तीन) भेद हैं; अविरत सम्यग्दृष्टि वह प्रथम (जघन्य) अंतरात्मा है, क्षीणमोह वह अंतिम (उत्कृष्ट) अंतरात्मा है और उन दोनों के मध्य में स्थित वह मध्यम अंतरात्मा है।"

पंडित बनारसीदासजी परमार्थ वचनिका-बनारसी विलास पृष्ठ २१३ में लिखते हैं कि "तैसे सम्यग्दृष्टिकौ स्व-पर स्वरूप विषै, न संसै, न विमोह न विभ्रम, यथार्थ दृष्टि है, **तातै सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरदृष्टि करि मोक्षपद्धति साधि जानै।** बाह्य भाव बाह्य निमित्तरूप मानै, सो निमित्त नानारूप, एक रूप नाहीं। **अंतरदृष्टि के प्रमान मोक्षमार्ग साधै, सम्यग्ज्ञान-स्वरूपाचरण की कनिका जागे मोक्षमार्ग सांचौ।**"

अब संवर की व्याख्या क्या है ? यह बतलाते हैं—

बृहत् द्रव्यसंग्रह गाथा ४१ पृष्ठ ८६ में लिखा है कि 'संवर' इस शब्द से कहे जाने योग्य जो शुद्धोपयोग है, सो संसार के कारणभूत जो मिथ्यात्व, रागादि अशुद्ध पर्यायें हैं, उनकी तरह अशुद्ध नहीं होता और इसीप्रकार फलभूत जो केवलज्ञानस्वरूप शुद्धपर्याय है, उसकी भाँति शुद्ध भी नहीं होता है। किंतु उन अशुद्ध तथा शुद्धपर्यायों से विलक्षण, **शुद्धआत्मा के अनुभवस्वरूप निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का कारण, एकदेश में व्यक्तिरूप (प्रगटरूप) और एक देश में आवरण रहित ऐसा तृतीय अवस्थान्तररूप कहा जाता है।**"

देखिये, चौथे गुणस्थान में संवर होता है, यह बात सत्य है; इसलिये यह सिद्ध हुआ कि चौथे गुणस्थान की भूमिका के योग्य शुद्धोपयोग चौथे गुणस्थान से ही शुरु होता है। चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र और संवर प्रगट होता है, यह बात निर्विवाद सिद्ध है; इसलिये ऐसा समझना कि जब मुनि की अपेक्षा लेने में आवे, तब मुनि के लायक शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान में होता है। जिस जिस शास्त्र में शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान में होता है, ऐसा कहने में आया है, वह सब मुनि की अपेक्षाकृत बात है। जब मुनि की अपेक्षा निकाल दी जावे और अकेले शुद्धोपयोग की बात करे, तब उसका स्वरूप निम्नप्रकार है।

(१) चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग बहुत गौण लम्बे अंतराल के पीछे आता है, उसको

सच्चा मोक्षमार्ग अर्थात् एकदेश मोक्षमार्ग कहने में आता है। निर्विकल्पदशा होती है, तब दर्शनमोह अनंतानुबंधी चौकड़ी के अभावपूर्वक चारित्र की शुद्ध परिणति होती है, उससे संवर-निर्जरा होती है। पाँचवें गुणस्थान की बात आगे आवेगी।

मथुरा जैन संघ से प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक संपादक लालबहादुर शास्त्री, पृष्ठ २८७ में कहा है कि 'जीवा जीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्। श्रद्धानंविपरीताभिनिवेशविविक्त-मात्मरूपं तत् ॥२२॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

अर्थात् विपरीताभिनिवेश से रहित जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदा काल करना चाहिए। **यह श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है। दर्शनमोह की उपाधि दूर होकर प्रगट होता है; इसलिये आत्मा का स्वभाव है। चतुर्थ आदि गुणस्थान में प्रगट होता है। बाद में सिद्ध अवस्था में भी सदा इसका सद्भाव रहता हे, ऐसा जानना चाहिये।**

देखिये—व्यवहारसम्यग्दर्शन सिद्ध अवस्था में नहीं होता; इसलिये चौथे गुणस्थान का निश्चयसम्यग्दर्शन और सिद्ध भगवान का सम्यग्दर्शन दोनों समान हैं, क्योंकि यह शुद्ध आत्मा का स्वरूप है, इसलिये आत्मा का निज स्वभाव ही है।

राजमलजी कृत श्री समयसारजी कलश टीका में जीव अधिकार के कलश ३१ की टीका, पृष्ठ ४४ में नीचे अनुसार कहा है कि ''कैसा है आत्मा? दर्शन ज्ञान वृत्तैः कृत परिणतिः॥ दर्शन कहने से श्रद्धा, रुचि, प्रतीति; ज्ञान कहने से जानपना; चारित्र कहने से शुद्ध परिणति—ऐसा जो रत्नत्रय उसका कृत कहा है। परिणति कहने से परिणमन जो ऐसा है। भावार्थ—ऐसा जो **'मिथ्यात्व-परिणति का त्यागी होने से शुद्ध स्वरूप का अनुभव होते साक्षात् रत्नत्रय घटे है।'** आगे जाने पर कहा है कि भावार्थ—ऐसा जो 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' ऐसा जो कहा है, वह सब जैन सिद्धांत माहे है और ये ही प्रमाण है।''

इस ऊपर से सिद्ध होता है कि **चौथे गुणस्थान से मिथ्यात्व का त्याग होने पर साक्षात् रत्नत्रय प्रगट होता है और ऐसा ही** इसी शास्त्र के कलश ६ की टीका, पृष्ठ १३ में इसी प्रमाण से कहा है। श्री समयसार गाथा १३ की टीका, पृष्ठ ३१ में लिखा है कि ''**यह जीवादि नव तत्त्व भूतार्थ नय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं (यह नियम कहा) क्योंकि ×××उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थ नय से एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनय से स्थापित आत्मा की अनुभूति—जिसका लक्षण आत्मख्याति है, वह प्राप्त होती है।**''

देखिये, निर्विकल्प दशा कहो, आत्मानुभूति कहो, सम्यग्दृष्टि का शुद्धोपयोग कहो—एक ही बात है।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३६३ तथा ३६४ में लिखा है कि "**श्रद्धान में किसी कषाय के करने का अभिप्राय नहीं है लेकिन द्रव्यलिंगी के शुभ कषाय करने का अभिप्राय पाया जाता है। श्रद्धा में उसको अच्छा समझता है, इसलिये श्रद्धान की अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि से भी इसके अधिक कषाय है।** तथा द्रव्यलिंगी के योगों की शुभ प्रवृत्ति अधिक होती है और अघातिया कर्म में पुण्य-पाप का बंध का विशेष शुभ-अशुभ योगों के अनुसार है, इसलिये अंतिम ग्रैवेयक तक पाया जाता है, लेकिन **कुछ कार्यकारी नहीं है** क्योंकि अघातिया कर्म आत्मगुण के घातक नहीं हैं; इनके उदय से ऊँचा-नीचा पद पाया तो क्या हुआ? यह तो बाह्य संयोग मात्र संसारदशा के स्वाँग हैं। आप तो आत्मा हैं; इसलिये आत्मगुणों के घातक कर्मों का हीन होना ही कार्यकारी है। लेकिन घातियाकर्मों का बंध **बाह्य प्रवृत्ति के अनुसार नहीं है, अंतरंग कषायशक्ति के अनुसार है;** इसीकारण द्रव्यलिंगी से **असंयत और देशसंयत सम्यग्दृष्टि के घातियाकर्मों का थोड़ा बंध होता है। द्रव्यलिंगी के तो सब घातिया कर्मों का बंध बहुत ही स्थिति और बहुत अनुभाग लेकर होता है। और असंयत तथा देशसंयत सम्यग्दृष्टि के** मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी आदि कर्मों का बंध ही नहीं है, बाकी बचे हुये का बंध होता है। सो **थोड़ी स्थिति और थोड़े अनुभाग को लेकर होता है।** तथा द्रव्यलिंगी के कभी गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती **किंतु सम्यग्दृष्टि के कदाचित् गुणरेणी निर्जरा होती है।** और देशसंयम या सकल संयम के होने पर निरंतर होती है, इसी से यह मोक्षमार्ग है। अतः द्रव्यलिंगी मुनि को असंयत और देशसंयत सम्यग्दृष्टि से हीन बतलाया है।"

पंचम गुणस्थान

३६०—(१) श्री समयसारजी में गाथा ४११ तथा ४१४ में श्रमण और श्रमणोपासक दोनों को निश्चय मोक्षमार्ग होता है, ऐसा कहा है।

(२) श्री नियमसार गाथा १३४ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने श्रावक और श्रमण दोनों को शुद्ध रत्नत्रय परिणाम होता है अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग होता है, ऐसा कहा है।

(३) चारित्रपाहुड़ गाथा २१ में कहा है कि श्रावक और श्रमण दोनों को निश्चयमोक्षमार्ग होता है।

(४) बृहत् द्रव्यसंग्रह गाथा ४१ की टीका पृष्ठ १५८ में लिखा है कि—भेदाभेदरत्नत्रय

धारण करनेवाला मुनि, अर्जिका-श्रावक और श्राविका ऐसा चार प्रकार का संघ है। देखिये— अर्जिका, श्रावक और श्राविका को पाँचवाँ गुणस्थान ही होता है (और ऊपर का नहीं होता है।) उसको निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग कहा है, आगे वात्सल्य अंग का निरूपण करते हुए कहते हैं कि **बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार के रत्नत्रय को धारण करनेवाले मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका** यह चार प्रकार का संघ है। देखिये—अर्जिका और श्रावक व श्राविकाओं को दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग होता है, अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग भी होता है।

(५) श्री प्रवचनसार (जयसेनाचार्य कृत) अनुवाद ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी गाथा ११ की टीका पृष्ठ ४० में लिखा है कि, ''यहाँ धर्म शब्द से अहिंसा लखण धर्म, मुनि-श्रावक का धर्म उत्तम क्षमादि दसलक्षण धर्म अथवा रत्नत्रय स्वरूप धर्म व मोह क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम या शुद्ध वस्तु का स्वभाव ग्रहण किया जाता है।''

देखिये, यहाँ मुनि और श्रावक दोनों को चारित्ररूप धर्म (शुद्धोपयोग) होता है, ऐसा कहा है क्योंकि चारित्र दो प्रकार का होता है - सागार और अनगार।

(६) योगसार ६५ वें श्लोक में लिखा है कि 'सागारा अपि अनगारः कः अपि यः आत्मनि वसति स लघु प्राप्नोति सिद्धि सुखं जिनवरः एवं भणति ॥६५॥'

अर्थ—गृहस्थ हो या मुनि हो, जो कोई भी निज आत्मा में वास करता है, वह शीघ्र ही सिद्धि सुख को पाता है, ऐसा जिन भगवान ने कहा है।

देखिये—यहाँ पर भी पंचम गुणस्थानधारी **श्रावक भी आत्मा में बसते हैं अर्थात् उसके निश्चय** मोक्षमार्ग होता है, ऐसा कहा है।

(७) श्री प्रवचनसार (जयसेनाचार्य कृत) अनुवाद शीतलप्रसादजी गाथा ६९, अध्याय ३ की टीका (अमृतचंद्राचार्य की गाथा २४८ प्रवचनसार) पृष्ठ २५४ में लिखा है कि, 'श्रावकों के भी सामायिक आदि उदासीन धर्मक्रिया के काल में **शुद्धोपयोग की भावना देखी जाती है। तब साधु और श्रावकों में क्या अंतर रहा ?**' (भावना-एकाग्रता)

''इसका समाधान आचार्य करते हैं कि आपने **जो कहा वह सब युक्ति संगत है-ठीक है परंतु जो अधिकतर शुभोपयोग के द्वारा ही वर्तन करते हैं, यद्यपि वे कभी-कभी शुद्धोपयोग की भावना कर लेते हैं, ऐसे अधिकतर शुभोपयोगी श्रावकों को शुभोपयोगी ही कहा है** क्योंकि उनके शुभोपयोग की प्रधानता है तथा जो शुद्धोपयोगी साधु हैं, यद्यपि वे किसी काल में **शुभोपयोग**

द्वारा वर्तन करते हैं, तथापि वे शुद्धोपयोगी हैं क्योंकि साधुओं के शुद्धोपयोग की प्रधानता है। जहाँ जिसकी बहुलता होती है, वहाँ कम बात को न ध्यान में लेकर बहुत जो बात होती है, उसी रूप उसको कहा जाता है। हर जगह कथन के व्यवहार में **बहुलता की प्रधानता रहती है। जैसे किसी वन में आम्रवृक्ष अधिक हैं वा अन्य वृक्ष थोड़े हैं तो उसको आम्रवन कहते हैं और जहाँ नीम के वृक्ष बहुत हैं, आम्रादिक के कम हैं, वहाँ उसको नीम का वन कहते हैं-ऐसा व्यवहार है।**''

(८) श्री समयसार नाटक, पाप-पुण्य एकत्व अधिकार, ८वाँ कलश, पृष्ठ १४१-१४२ में बनारसीदासजी कहते हैं कि **श्रावक और मुनि दोनों को लागू पड़ता है ऐसा कहकर दोनों को आत्मा में लीन होने का उपदेश दिया है तथा 'अपनी-अपनी शुद्ध क्रिया कौ आलम्बन लिये देशविरति कहावै।'**

(९) श्री नियमसार गाथा १३४, पृष्ठ २६८ में लिखा है कि 'टीका, यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है। चतुर्गति संसार में परिभ्रमण के कारणभूत तीव्र मिथ्यात्वकर्म की प्रकृति से प्रतिपक्ष (विरुद्ध) निज परमात्मतत्त्व के **सम्यक् श्रद्धान-अवबोध-आचरणरूप शुद्धरत्नत्रय**-परिणामों का जो भजन वह भक्ति है, आराधना ऐसा उसका अर्थ है। एकादशपदी श्रावकों में जघन्य छह हैं, मध्यम तीन हैं, तथा उत्तम दो हैं। **यह सब शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं** तथा भवभयभीरु परम नैष्कर्म्य वृत्तिवाले (परम निष्कर्म परिणतिवाले) परम तपोधन भी शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। उन परम श्रावकों तथा परम तपोधनों को जिनवरों को कही हुई निर्वाणभक्ति-अपुनर्भवरूपी स्त्री की सेवा वर्तती है। तथा २२०वें कलश में कहते हैं कि, 'जो जीव भव भय के हरनेवाले इस सम्यक्त्व की, शुद्ध ज्ञान की और चारित्र की भवछेदक अतुल भक्ति निरंतर करता हे, वह काम-क्रोधादि समस्त दुष्ट पाप समूह से मुक्त चित्तवाला **जीव श्रावक हो अथवा संयमी हो—निरंतर भक्त है, भक्त है॥२२०॥**'

३६१—६, ७ गुणस्थान का व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग—

(१) इस विषय में बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ४७, पृष्ठ १८०वें निम्नप्रकार लिखा है कि, ''उसमें प्रथम ही तुम निश्चय और व्यवहारमोक्षमार्ग को साधनेवाला जो ध्यान है, उसका अभ्यास करो, ऐसा उपदेश देते हैं।

दुविहं पि मुक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तह्मा पयत्त चित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥४७॥

अर्थ—मुनि ध्यान के कारण से जो नियम से निश्चय और व्यवहार इन दोनों स्वरूप मोक्षमार्ग को पाता है। इस कारण से हे भव्यों! तुम चित्त को एकाग्र करके ध्यान का अभ्यास करो व्याख्यार्थ—'**दुविहं पि मुक्ख हेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा**'

जिससे कि मुनि नियम से ध्यान करके दोनों प्रकार से मोक्ष-कारणों को प्राप्त होता है। वे दोनों मोक्ष के कारण इसप्रकार हैं, निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चय मोक्ष कारण अर्थात् निश्चय-मोक्षमार्ग और इसीप्रकार व्यवहाररत्नत्रयरूप व्यवहार मोक्ष हेतु अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग—इन दोनों को साध्य-साधक भाव से अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग साध्य (साधनेयोग्य) है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधक (निश्चय मोक्षमार्ग का साधनेवाला) है, इसरूप से जो पहिले कहा है, **उन दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को मुनि जिसकारण से विकार रहित-निज संवेदनस्वरूप परम ध्यान करके प्राप्त होता है।** 'तह्मा पयत्तचित्ता जूयं ज्झाणं समब्भसह' इसीकारण से एकाग्रचित्त होकर **हे भव्य जनों! तुम भले प्रकार से ध्यान का अभ्यास करो अर्थात् मुनि ध्यान से दोनों मोक्षमार्गों को प्राप्त होते हैं।** इस कारण से तुम देखा हुआ, सुना हुआ और अनुभव किया हुआ जो अनेक प्रकार के मनोरथरूप संपूर्ण शुभ-अशुभ राग आदि विकल्पों का समूह है, उसका त्याग करके और परम निज स्वरूप में स्थित होने से उत्पन्न हुआ जो सहज आनंदरूप एक लक्षण का धारक सुखरूपी अमृतरस के आस्वाद का अनुभव है, उसमें स्थित होकर ध्यान का अभ्यास करो ॥४७॥''

(२) तत्त्वानुशासन में कहते हैं कि—

''स च मुक्तिहेतु रिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम्॥३३॥

अर्थ—उपरि वर्णित वह दो प्रकार का समीचीन मोक्षमार्ग, चूँकि ध्यान से प्राप्त होता है, अतः हे बुद्धिमान मुमुक्षु प्राणियों! आलस्य को दूर कर सदा ही ध्यान का अभ्यास करो, जिससे मुक्ति हेतुओं की प्राप्ति हो सके।''

देखिये, यहाँ स्पष्टरूप से कहा है कि निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग दोनों ध्यान में एक ही साथ प्राप्त होते हैं, क्योंकि जितनी वीतरागता है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है, जितना शुभराग रहा, वह शुभ उपयोगरूप मुनिदशा कहने में आती है। इसलिये सातवाँ गुणस्थान आने के पहिले किसी भी जीव को मुनि के योग्य निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग नहीं होता। श्रावक को निश्चय-मोक्षमार्ग, व्यवहारमोक्षमार्ग तथा मुनि के निश्चयमोक्षमार्ग-व्यवहारमोक्षमार्ग दोनों में शुद्धता की

अपेक्षा भिन्नता है। पंचम गुणस्थान के योग्य जो निश्चयमोक्षमार्ग-व्यवहारमोक्षमार्ग होता है, वह भी ध्यान में एक ही साथ प्राप्त होता है। इसलिये व्यवहारमोक्षमार्ग पहिले होता है और निश्चय -मोक्षमार्ग पीछे होता है, यह बात सच्ची नहीं है। यह बात तो सातवाँ गुणस्थान प्राप्त होने के पीछे की बात है अर्थात् गोम्मटसार के अनुसार सातवाँ गुणस्थान पहले और छठवाँ गुणस्थान बाद में आता है। तब छठवें से सातवाँ वा सातवें से छट्ठा ऐसा अनेक बार भावलिंगी मुनियों के आते हैं। निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट होता है, वह भी व्यवहारमोक्षमार्ग से परम निरपेक्ष है।

(३) देखिये नियमसार गाथा २ की टीका पृष्ठ ७ पर लिखा है कि "निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है और उस शुद्ध रत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (निज शुद्ध आत्मा की प्राप्ति है)।"

(४) तत्त्वानुशासन १६२ गाथा में लिखते हैं कि, "अर्थ—**चूँकि वह स्व और पर की ज्ञप्तिरूप है। अतः उसका अन्य और कारण नहीं है। इसलिये चिंता को हटा स्वसंवित्ति के द्वारा ही अनुभवन करना चाहिये।**"

सप्तम गुणस्थान प्राप्त करने की विधि निम्नप्रकार है:—किसी चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव को ऐसा भासित हो कि मुझे अपने तीव्र पुरुषार्थ के बल से अल्पकाल में सातवाँ गुणस्थान होगा, तब वह भावलिंगी आचार्य-मुनि के पास अपने भावों को प्रगट करता है, गुरु उसकी परीक्षा करके उसे दीक्षा देते हैं, दीक्षा के समय उसका चौथा-पाँचवाँ गुणस्थान होता है। उसको उस समय छट्ठा गुणस्थान न होने से उसको छट्ठे गुणस्थान के योग्य व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं है, किंतु स्वरूप में लीन होने पर सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है, तब गुरु के पास से द्रव्यलिंग ग्रहण किया था, उसको छट्ठे गुणस्थान के योग्य व्यवहारमोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। गुरु के पास दीक्षा लेते हैं, पंचाचार पालते हैं, उसको व्यवहारमोक्षमार्ग कहने में आता है, किंतु वह व्यवहारमोक्षमार्ग **भावी नैगमनय से** कहने में आता है।

कोई जीव ऐसा भी हो कि दीक्षा के बाद सातवाँ गुणस्थान प्रगट न हो, तब उसने गुरु के पास से जो पंचाचार अंगीकार किया था, वह **छट्ठे गुणस्थान के योग्य व्यवहारमोक्षमार्ग कहने में नहीं आता क्योंकि सातवाँ गुणस्थान होने पर ही छट्ठा गुणस्थान आता है।**

मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४६२ पर लिखा है कि, "यद्यपि कारण अनेक प्रकार के होते हैं, कोई कारण तो ऐसे होते हैं, **जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होते और जिनके होने पर कार्य हो या न**

भी हो। जैसे मुनिलिंग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता किंतु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है, नहीं भी होता। तथा कुछ कारण ऐसे हैं कि मुख्यता से जिनके होने पर कार्य होते हैं और किसी के बिना हुए भी कार्य सिद्ध हो जाते हैं, जैसे अनशनादि बाह्य तप का साधन करने पर मुख्यपने मोक्ष पाया जाता है परंतु भरतादि के बाह्य तप बिना किये ही मोक्ष की प्राप्ति हो गई। **कुछ कारण ऐसे हैं जिनके होने पर कार्य सिद्ध अवश्य ही होता है और जिनके न होने पर कार्य सिद्ध सर्वथा नहीं होता। जैसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होने पर मोक्ष अवश्य ही होता है और उनके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता। इस तरह इन कारणों में अतिशय पूर्वक नियम से मोक्ष का साधन जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकीभाव है, उसे मोक्षमार्ग समझना चाहिये।''**

देखिये, इस आधार से सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सप्तम गुणस्थान के योग्य एकता वही सच्चा कारण है, क्योंकि यह होने पर मोक्ष अवश्य होता ही है, इसके हुये बिना मोक्ष सर्वथा नहीं होता। मुनिलिंग धारे बिना मोक्ष न हो, ऐसा जो लिखा है, वह निमित्त कारण है, व्यवहारनय का कथन है। इसलिये इसका अर्थ ऐसा होता है कि 'ऐसा है ही नहीं' निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार किया है।

देखिये, समयसार गाथा ६७ की टीका व उसकी सूचिनका में अमृतचंद्राचाय ने **व्यवहार को व्यवहार मात्र कहा है और उसकी व्याख्यान करते हुये कहा है कि व्यवहार अप्रयोजन अर्थ है अर्थात् उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है, व्यवहार होता है, यह बात यथार्थ है किंतु उससे धर्म का प्रयोजन सधता है, यह बात असत्य है।**

श्री समयसार कलश ४०, पृष्ठ ११९ में लिखा है कि ''यदि 'घी का घड़ा' ऐसा कहने पर भी घड़ा है, वह घीमय नहीं है (मिट्टीमय ही है।) तो इसीप्रकार 'वर्णादिमान' जीव ऐसा कहने पर भी जीव है, वह वर्णादिमय नहीं है (ज्ञानघन ही है)'' **इससे सिद्ध हुआ कि व्यवहार को निमित्त कारण कहने पर भी वह सच्चा कारण नहीं है।**

श्री समयसार गाथा २७६-२७७ की टीका, पृष्ठ ३९९ में लिखा है कि ''शुद्ध आत्मा चारित्र है क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है, इसप्रकार निश्चय है। इनमें व्यवहारनय **प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है, क्योंकि आचारांगादि ज्ञानादि का आश्रयत्व अनैकांतिक है-व्यभिचारयुक्त है।''**

निश्चयचारित्र प्रगट हुए बिना बाह्य लिंग को कारण मानने में व्यभिचार दोष आता है क्योंकि वह होने पर भी अर्थात् बाह्य लिंग होने पर भी द्रव्यलिंगी को निश्चयचारित्र नहीं है। इसलिये इसको सच्चा कारण मानने में न्यायशास्त्र के अनुसार **अनेकांतिक अर्थात् व्यभिचार दोष**

आता है। सम्यग्दर्शन के संबंध में भी व्यवहार को निश्चय का सच्चा कारण मानने में व्यभिचार दोष आता है।

देखिये श्री समयसार कलश ६, पृष्ठ २९ पर भावार्थ में लिखा है कि "शुद्धनय से ज्ञायकमात्र एक आकार दिखलाया गया है, उसे सर्व अन्य द्रव्यों और अन्य द्रव्यों के भावों से अलग देखना-श्रद्धान करना, सो नियम से सम्यग्दर्शन है। **व्यवहारनय आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता।**"

पंचाध्यायीकार ने निमित्तकारण को 'अकारणवत्' कहा है। श्री समयसार में श्री जयसेनाचार्य ने, द्रव्यसंग्रह में ब्रह्मदेव सूरि ने निमित्त को निमित्तमात्र कहकर 'हेय तत्त्व' ही कहा है।

श्री पंचास्तिकाय में गाथा ७३ में निमित्त-कारण को **अधर्मास्तिकाय के समान** उदासीन कारण कहा है। [श्री जयसेनाचार्य की टीका]

श्री इष्टोपदेश ३५वीं गाथा में सब निमित्तों को धर्मास्तिकायवत् कहा है।

श्री समयसार कलश २४२, पृष्ठ ५६५ में लिखा है कि "**जो धान के छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं, उन्हीं को कूटते रहते हैं, उन्होंने चावलों को जाना ही नहीं है; इसीप्रकार जो द्रव्यलिंग आदि व्यवहार में मुग्ध हो रहे हैं (अर्थात् जो शरीरादि की क्रिया में ममत्व किया करते हैं) उन्होंने शुद्धात्मानुभवनरूप परमार्थ को जाना ही नहीं है अर्थात् ऐसे जीव, शरीरादि परद्रव्यों को ही आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ आत्मा के स्वयप को नहीं जानते।**" समयसार गाथा २१४ के भावार्थ में पृष्ठ ५६७ पर कहा है कि "**व्यवहार का विषय तो भेदरूप अशुद्ध द्रव्य है, इसलिये वह परमार्थ नहीं है। निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्ध द्रव्य है, इसलिये वही परमार्थ है; इसलिये जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे समयसार का अनुभव नहीं करते। जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं** (इसलिये वे ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं।)"

श्री समयसार गाथा १२ की टीका पृष्ठ २६ में लिखा है कि "अशुद्धद्रव्य को कहनेवाला होने से जिसने भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं, ऐसा व्यवहारनय, विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से **जानने में आता हुआ उस काल प्रयोजनवान है।**"

निमित्त कारण—व्यवहारमोक्षमार्ग, यह सब व्यवहारनय का विषय है। इसलिये प्रमाणज्ञान करने के लिये उस समय में जाना हुआ प्रयोजनवान है। धर्म के लिये **आश्रय करने योग्य आदरणीय मानना, वह मिथ्यादृष्टिपना है।**

३६२—**प्रश्न ४—ड**—ज्ञातादृष्टा किस गुणस्थानवर्ती जीव होता है ?

उत्तर:—चौथे गुणस्थान से जीव ज्ञातादृष्टा होता है, इस विषय में आधार निम्नानुसार है।

(१) श्री समयसार, निर्जरा अधिकार गाथा १९३ का भावार्थ।

(२) श्री समयसार गाथा १७३-१८४ आस्रव अधिकार में सम्यग्दृष्टि को **ज्ञातादृष्टा और ज्ञाता ही है, ऐसा कहा है।**

(३) श्री समयसार, गाथा १६६ में सम्यग्दृष्टि के निरंतर ज्ञानमयी परिणाम ही होता है।

(४) श्री समयसार, गाथा १३०-१३१ में क्रोधादि भावों का अन्य ज्ञेयों की भाँति ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं।

(५) श्री समयसार कलश ९७ में अविरत सम्यग्दृष्टि को 'ज्ञाता ही' ऐसा कहा है।

(६) श्री समयसार, गाथा १४४ में **ज्ञाताभावरूप से परिणमन करता हुआ होने से अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया करते हुए होने से ज्ञाता ही है, ऐसा कहा है।**

(७) श्री समयसार, गाथा १९६ श्री जयसेनाचार्य की गाथा २०५ अनुवादक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी पृष्ठ १७४ में **सम्यग्दृष्टि को परमात्मतत्त्व का ज्ञाता पुरुष कहते हैं,** ऐसा लिखा है।

(८) श्री समयसार, गाथा २०८ में सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मैं तो ज्ञाता ही हूँ।

(९) श्री समयसार, गाथा २२४ से २२७ के कलश १५३ में लिखा है कि "**अविरत सम्यग्दृष्टि से शुरु करके ऊपर के सब गुणस्थानों में ज्ञानी ही समझना, अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को बाह्यक्रिया कर्म का प्रवर्तन होता है तो भी ज्ञान स्वभाव से अचलित होने से वह ज्ञान का ही कर्ता है।**"

(१०) श्री समयसार, गाथा २८८, कलश १६०-१६१ में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञाता ही रहते हैं, इसलिये उनको किसी भी प्रकार का भय नहीं है।

(११) श्री समयसार, गाथा २३० में सम्यग्दृष्टि वांछा का कर्ता होता ही नहीं, वह कर्म का उदय जानकर उसका ज्ञाता ही रहता है।

(१२) श्री समयसार, गाथा ३१६ में सम्यग्दृष्टि ज्ञाता ही रहता है, कर्म का भोक्ता नहीं होता है, ज्ञानी को शुद्ध आत्मा का अनुभव हो गया है; इसलिये वह प्रकृति को अपना स्वभाव न जानते हुए ज्ञाता ही रहता है।

(१३) श्री समयसार, गाथा ३२०, पृष्ठ ४५४ में लिखा है कि केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप ही है और **श्रुतज्ञानी भी शुद्धनय के आलंबन से आत्मा का ऐसा ही अनुभव करते हैं।** प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही भेद है, इसलिये **श्रुतज्ञानी को ज्ञान-श्रद्धान की अपेक्षा से ज्ञातादृष्टापना ही है** ×× ॥ **यहाँ सम्यग्दृष्टि को जो ज्ञानी कहा जाता है, सो वह मिथ्यात्व के अभाव की अपेक्षा से कहा जाता है।**

(१४) श्री समयसार, गाथा ३८२ कलश २२३, पृष्ठ ५१७ में लिखा है कि 'जीव पहिले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न **अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप आगमप्रमाण, अनुमान प्रमाण और स्वसंवेदन प्रमाण से जानता है। और उसका श्रद्धान (प्रतीति) दृढ़ करना है, यह तो अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्था में भी होता है।'**

(१५) श्री समयसार, गाथा ३८७ से ३८९, कलश २३० के भावार्थ में लिखा है कि, ''ज्ञानी कहता है कि जो—कर्म उदय में आता है, उसके फल को मैं ज्ञाता-दृष्टारूप से देखता हूँ और उसका भोक्ता नहीं होता; इसलिये मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जाये, मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन होता हुआ उसका ज्ञातादृष्टा ही होऊं। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि **अविरत, देशविरत तथा प्रमत्त संयत दशा में ऐसा ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है।**''

(१६) श्री प्रवचनसार, गाथा २०२, पृष्ठ २५० में लिखा है कि **सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानता है—अनुभव करता है और अपने को अन्य समस्त व्यवहार भावों से भिन्न जानता है।** जब से उसे स्व-पर का विवेकस्वरूप भेदविज्ञान प्रगट हुआ था, तभी से वह समस्त विभाव भावों का त्याग कर चुका है और तभी से उसने टंकोत्कीर्ण निजभाव अंगीकार किया है; इसलिये उसे न तो त्याग करने को रहा है और न कुछ ग्रहण करने को—अंगीकार करने को रहा।''

—क्रमशः

द्रव्य के स्वभावभूत 'परिणाम शक्ति' और उसकी प्रभुता का अद्भुत प्रकाश

(पूज्य स्वामीजी का प्रवचन, तारीख ८-९-६३)

अगणित अनंत शक्ति का धारक आत्मा, उसके एक-एक गुण में अनंत गुणों का रूप है—ऐसे अनंत गुणमय अनंत शक्तियों में से समयसार में ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। उसमें १८वीं शक्ति-क्रमवृत्तिरूप तथा अक्रमवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है, ऐसी उत्पादव्यय - ध्रुवत्वशक्ति का वर्णन हो गया है। आत्मा अनंत शक्ति का पिंड है। तीनों काल अनंत आत्मा हैं और वे सब पृथक्-पृथक् हैं। एक समय में अनंत सामर्थ्य से एकरूप आत्मद्रव्य परिपूर्ण है; उस पर दृष्टि देने से पर्याय में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आनंद, स्वच्छत्वादि अनंत शक्तियाँ उछलती हैं; अनंत गुणों की अनंत पर्यायें सम्यक्रूप से उत्पन्न होती हैं, ऐसे एकरूप ज्ञायक आत्मा की प्रतीति हो, उसका नाम उत्तम सत्य है। सत्य सुना नहीं है, सुनने की रुचि नहीं है, रुचि के बिना परिणमन नहीं होता।

१९वीं परम अद्भुत परिणामशक्ति का वर्णन

द्रव्य के स्वभावभूत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के आलिंगित (स्पर्शित) सदृश-असदृश जिसका रूप है, ऐसे एक अस्तित्वमात्र से परिणामशक्ति और महानशक्ति कही है। प्रवचनसार की ९९वीं गाथा में द्रव्य के स्वभावभूत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय परिणामशक्ति है, और उसका स्पष्टीकरण आचार्यदेव ने १०९वीं गाथा में किया है कि—हमने पहले गाथा ९९ में कही है, वह परिणामशक्ति आत्मा का गुण है। गुण में सदृशपना है, ध्रुवपना है, और पर्याय में उत्पाद-व्ययपना है। प्रत्येक गुण में उसका रूप और भाव है। प्रति समय नवीन पर्याय का भाव, सो उत्पाद सत् है; पूर्व पर्याय का अभाव, सो व्ययसत् है, वह विसदृशरूप भाव है और गुण तो त्रिकाल सदृशतारूप ध्रुवभाव है। इसप्रकार द्रव्यशक्तिवान आत्मद्रव्य में द्रव्य के स्वभावभूत उत्पाद-व्यय से स्पर्शशक्ति है, वह अपने कारण है, पर से नहीं है और ऐसी अनंत शक्तियाँ आत्मद्रव्य में विराजमान हैं। यहाँ ४७ शक्तियों के नाम लिये हैं, किंतु ऐसी अगणित शक्तियाँ हैं और उन्हें धारण करनेवाला एक आत्मा है; उसमें अपने सामर्थ्य से अपने कारण उत्पाद-व्यय होता रहता है।

पर का कुछ किया नहीं जा सकता; पर से आत्मा में कुछ होता नहीं है; दया-दान के शुभराग से पुण्य बँधता है किंतु कल्याण नहीं होता। मात्र आत्मा को जानने से और उसमें एकाग्रता से ही धर्म होता है। निचली दशा में दया, दान, पूजा, प्रभावना आदि का शुभराग आये बिना नहीं रहता। आये उसका निषेध नहीं है किंतु उससे वास्तव में धर्म हो जायेगा, ऐसा नहीं है। शुभभाव आये, वह पुण्य है और धर्म तो आत्मा का वीतरागी स्वभाव है।

आचार्यदेव पद्मनंदि पंचविंशति के दान अधिकार में कहते हैं कि—संसारी प्राणी तीव्र लोभरूपी गहरे कुएँ की खोह में पड़े है; उन्हें तृष्णा घटाने के लिये दान का उपदेश देंगे। फिर दृष्टांत दिया है कि—कौए को कहीं जले हुए अनाज की जूठन मिल जाये तो उसे वह अकेला नहीं खाता परंतु दूसरे कौओं को बुलाकर खाता है; उसीप्रकार पूर्वभव में तूने जो पुण्य किये थे, उनमें तेरी शांति जली थी और पुण्य का बंध हुआ था, उसके फलस्वरूप तुझे पैसे की प्राप्ति हुई है, उसका अकेले उपभोग करेगा, तृष्णा कम करके दान में नहीं देगा तो कौए से भी जायेगा। पुण्य का निषेध नहीं है; अशुभ से बचने के लिये शुभभाव होते हैं; वहाँ वास्तव में तो चारित्रगुण की जो पर्याय उस काल शुभरागरूप होने योग्य थी, वह होती है; किंतु व्यवहार के उपदेश में ऐसा कहा जाता है कि विषय-कषाय वचनार्थ से शुभ करो।

शुभराग करना नहीं पड़ता और अशुभ को टालना नहीं पड़ता, किंतु सामान्य एकरूप द्रव्यस्वभाव का आलंबन लेने पर, मंद प्रयत्न होने से अशुभ दूर होकर शुभराग हो जाता है, उसका कर्ता, भोक्ता या स्वामी ज्ञानी नहीं होता।

यहाँ परिणामशक्ति का शुद्ध कार्य, सो आत्मा का कार्य है—ऐसा बतलाना है। यहाँ द्रव्यदृष्टि से कथन है। शक्तिवान द्रव्य को ध्येय बनाने से अनंत शक्तियों का उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमन होता है; उसमें यह शक्ति महान है। द्रव्य अपने अनंत गुणों और पर्यायों सहित उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप का आलिंगन करके निरंतर वर्तता है।

परिणामशक्ति गुण है, वह अंश है और उसके द्वारा अंशी ऐसे द्रव्य पर दृष्टि देने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सुख, वीर्य, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, स्वच्छत्व आदि गुणों की सम्यक्दशा का उत्पाद होता है। प्रति समय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप अस्तित्वमात्र परिणाम है, वह द्रव्यस्वभाव का अवलंबन करता है, उससे निर्मल पर्याय की प्राप्तिरूप मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है।

आत्मद्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुव से आलिंगित है। उसका प्रथम निर्णय करे तो आत्मा, राग और निमित्त का स्पर्श नहीं करता उसकी श्रद्धा हो - यह उसका फल है।

जिसप्रकार लटकते हुए मोती के हार में प्रत्येक मोती क्रमानुसार—क्रमबद्ध है, कोई मोती इधर-उधर नहीं होता, पहला पहले स्थान में और बाद का बाद के स्थान में—इसप्रकार प्रत्येक मोती क्रमनिश्चितरूप से व्यवस्थित होता है; उसीप्रकार आत्मद्रव्य में प्रत्येक परिणाम अपने-अपने स्थान में निश्चितरूप से प्रकाशमान होता है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव को स्पर्श करनेवाली परिणामशक्ति है, वह महानशक्ति है। अहो! चैतन्य! तेरी ऋद्धि और तेरी महिमा अचिंत्य है।

जिसप्रकार हार में डोरा स्थायी रहता है, उसीप्रकार द्रव्य-गुण स्थायी रहते हैं। परिणामशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त होती है। प्रवचनसार में ज्ञेयअधिकार होने से प्रमाणज्ञान द्वारा छहों द्रव्य में परिणामशक्ति है - ऐसा कहा है, और यहाँ समयसार में एक आत्मा में कही है।

''पर्यायें क्रमानुसार नहीं होती, हार का दृष्टांत बराबर नहीं है; डोरे को तोड़कर मोतियों को आगे-पीछे किया जा सकता है''—ऐसा माननेवाले ने सर्वज्ञ कथित द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जाना ही नहीं है।

द्रव्य अखंड है, ऊर्ध्वतासामान्यरूप तीनों काल की पर्याय की अखंडता, सो द्रव्य है। पर्याय का उत्पाद-व्ययरूप होना, उस अपेक्षा से वस्तु को असदृश कहा जाता है और द्रव्य-गुण नित्य एकरूप रहते हैं, उस अपेक्षा से उसे सदृश कहा जाता है; दोनों को यह परिणामशक्ति स्पर्श करती है।

दया, दान, व्रतादि का शुभराग है, सो आस्रव है, बंध का कारण है; उसे जो धर्म मानता है, उसे आचार्यदेव ने क्लीव अर्थात् आत्मकार्य करने में नपुंसक कहा है।

परिणामशक्ति की भाँति आत्मा में ज्ञानादि प्रत्येक गुण सदृश-विसदृशरूप से व्याप्त हैं। द्रव्य सत्, गुण सत् और प्रतिसमय होनेवाली पर्याय भी सत् है। उसका कोई अन्य कर्ता नहीं है और न वह देहादि, रागादि का कार्य या कारण ही है। उसका कार्य किसी से हो, ऐसा वह पराधीन नहीं है। शुभरागरूप व्यवहार कारण तथा निर्मल पर्याय कार्य - ऐसा नहीं है। यहाँ एक शक्ति की प्रधानता से वर्णन है किंतु प्रत्येक गुण (शक्ति) एक साथ ही है, एक-दूसरे में व्यापक है; उसके साथ प्रभुत्वशक्ति है, वह अनंत गुणों की शक्ति में निमित्त है। सभी शक्तियाँ अपने-अपने सामर्थ्य से निर्मल पर्याय के उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित स्वद्रव्य का स्पर्श करती हैं। राग या निमित्त को स्पर्श करे, ऐसी कोई शक्ति आत्मद्रव्य में नहीं है। सदृश विसदृश अपने कारण से परिणमन होता है, आत्मा की निर्मलपर्याय पूर्व की पर्याय के कारण नहीं; दूसरे के निमित्त के कारण से नहीं, उसीप्रकार राग के कारण से भी नहीं।

आत्मा प्रतिसमय सर्व शक्तियों से पूर्ण है। द्रव्यस्वभाव के अवलंबन से प्रत्येक गुण की निर्मलपर्याय उत्पन्न होती है। प्रतिसमय प्रत्येक शक्ति सदृशरूप गुण-द्रव्य को और विसदृश उत्पाद-व्ययरूप परिणमन का स्पर्श करती है, किंतु अन्य का स्पर्श नहीं करती।

कहावत है कि—शिष्य सत्य नहीं छोड़ता और सागर अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता; उसीप्रकार अपनी अंतर्दृष्टिरूप साधकभाव, सो शिष्य है और द्रव्य-गुण का सागर, वह गुरु है। भगवान आत्मा अनंत गुणों का सागर अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की सीमा नहीं छोड़ता। कोई एक गुण किसी दूसरे गुण का कार्य नहीं करता और न पर से परिणमित होता है।

'सत् द्रव्यलक्षणं' तथा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'—ऐसा द्रव्य का स्वभाव है; इसलिये सिद्ध होता कि—स्वयं सिद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को सत् कहा है और अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति से व्यापक कहा है। अनंत गुण, वह सामान्य है और उनकी प्रति समय होनेवाली पर्याय सो विशेष है; इसलिये पर से कुछ हो सकता है इस मान्यता को स्थान नहीं है। अहो! अनंत काल में ऐसी बात मुश्किल से सुनने को मिलती है, समझना चाहे तो समझ सकता है। भगवान की वाणी समझनेवाले ऐसे आत्मा से ही यह कहा जाता है। भगवान कहीं जड़ को नहीं समझाते-जड़कर्म को उपदेश नहीं देते कि—'तू हट जा और जीव को धर्म करने दे।' आचार्यदेव कहते हैं कि हम आत्मा हैं; तू भी ज्ञानस्वरूप आत्मा है; तू अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से एकरूप है।

समयसारजी गाथा ३ में कहा है कि—प्रत्येक पदार्थ अपने अनंत गुणों और अनंत धर्मों को चूमता है—स्पर्श करता है, किंतु किसी अन्य का स्पर्श नहीं करता। **प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु अन्य किसी का कभी स्पर्श ही नहीं करता। जड़-कर्म, आत्मा का स्पर्श नहीं करता और आत्मा, जड़ का स्पर्श नहीं करता—ऐसी स्वतंत्रसत्ता का धाम सच्चिदानंद, अक्षय आनंद मंदिर आत्मा है। उत्पाद-व्यय में अपनी ही प्रभुता है; वीर्यगुण की प्रभुता आत्मद्रव्य की है। पर से या पर की सहायता से कार्य हो, ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। अनंत गुण अपनी प्रभुता दर्शाते हैं, उनमें हीनता का अभाव ही है। अहो! केवलज्ञान की महिमा अपार है, वह सर्व पदार्थों में ऐसी स्वतंत्रता बतलाता है।**

अस्तित्वमात्रमयी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व से आलिंगित सत्तारूप निरपेक्षता-स्वाधीनता प्रसिद्ध करनेवाली महान शक्ति है—ऐसा बतलाकर आचार्यदेव ने सर्वज्ञ का हृदय खोल दिया है।

इस शक्ति का वर्णन स्व० श्री दीपचंदजी साधर्मी ने अध्यात्म पंच संग्रह में 'परमात्म पुराण' अधिकार में परमात्म राजा के नगर की प्रजा के रक्षक के रूप में बड़े अच्छे ढंग से किया है।

अब यहाँ परिणाम-कोतवाल (नगररक्षक) का वर्णन करते हैं—

परिणाम-कोतवाल मिथ्यात्व-परिणाम—पर परिणामरूप चोर का प्रवेश नहीं होने देता। परपरिणाम नामक चोर कैसा है? वह यहाँ कहा जाता है—वह अपने स्वरूपरूप परिणाम का द्रोही है, पररूप में सावधान रहता है; परपद का निवास प्राप्त करके आत्मनिधिरत्न को चुराने में चतुर है। मिथ्यात्व-रागादिरूप अवस्था के कारण अनाकुल सुख का संबंध जिसे कभी नहीं हुआ है। पररस-शुभाशुभराग के रस का रसिक है। संसारी जीवों को वह अति कठिन है, तथापि उसे प्रिय लगता है। पररस बंधनकर्ता, पराधीन है, विनाशीक है। अनादि-सादि पारिणामिकता के कारण जो परंपरा से अनादि है—ऐसे परपरिणाम का प्रवेश परिणाम-कोतवाल होने नहीं देता। स्वपरिणाम-कोतवाल ने परमात्मराजा की प्रजा की देखभाल प्रतिसमय की है, इसलिये उसका महान यत्न(रक्षण) है।

परमात्मराजा ने एकस्वरूपरूप अनंत गुणों के रक्षण का अधिकारी परिणाम-कोतवाल को बनाया है। हमारे देश की (आत्मद्रव्य की) सर्व शुद्धता परिणामों से है; तब ऐसा जानकर गुण-प्रजा की और परमात्मराजा की प्रति समय देखभाल करता है। सर्व गुण के गृह में प्रवेश करके, उसके निधान को सिद्ध करके उनका प्रत्यक्ष प्रभाव प्रगट करता है। इस कोतवाल में ऐसी शक्ति है कि यदि किंचित् वक्र हो जाये तो राजा के समस्त पद अशुद्ध होकर संसारी की भाँति शक्ति मंद हो जाये; इसलिये परिणाम-कोतवाल ही सम्पूर्ण पद को शुद्ध रखता है। परिणाम के आधीन राजपद है, इसलिये परम रक्षक कोतवाल है। इस परिणाम-कोतवाल में ऐसी शक्ति है कि सर्वप्रकार से राजा को, राजा के गुणरूपी प्रजा को, मंत्री को तथा फौजदार को अपनी शक्ति में मिलाकर विद्यमान रखता है। समस्त गुण अपनी-अपनी महिमा को उसी से धारण करते हैं। इस परिणामशक्तिरूपी कोतवाल से आत्मा का सर्वस्व है—ऐसी परिणामशक्ति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से स्पर्शित सदृश-विसदृशरूप होने से परमात्मपद का कारण है, इसलिये उसमें अपार शक्ति है।

परमात्मराजा का वर्णन

परमात्मराजा अपनी चैतन्य परिणतिरूपी स्त्री से रमण करता है। कैसी है चैतन्यपरिणति? —महाअनंत, अनुपम, अनाकुल, अबाधित सुख देती है, परमात्मराजा से मिलकर एकरस होती है और परमात्मराजा अपने अंग से (स्वरूप से) मिलाकर एकरूप करता है।

प्रश्न—यदि परिणति प्रतिसमय नई-नई होती है, तब तो परमात्मराजा को अनंत परिणति हुई; तब अनंत परिणतिरूपी स्त्री कहना चाहिये?

उत्तर—परमात्मराजा एक है; परिणतिशक्ति भविष्यकाल में अन्य-अन्य प्रगट होना है, किंतु वर्तमान काल में व्यक्तरूप परिणति एक है, वही इस राजा को खिलाती है। जो वर्तमान की परिणति है, उसका उपभोग राजा करता है; वह परिणति समयमात्र आत्मिक अनंत सुख देकर आत्मद्रव्य में विलीन हो जाती है, परमात्मा में लीन हो जाती है। जिसप्रकार देव की एक देवांगना विलय होते ही उसके स्थान पर दूसरी उत्पन्न हो जाती है और उससे वह देव भोग करता है; परंतु यहाँ तो यह विशेषता है कि—उसकी देवांगना तो दीर्घकाल तक रहती है, जबकि द्रव्य में परिणति स्त्री तो एक समयमात्र रहती है; और वह देवी तो विलय होकर अन्य स्थान में उत्पन्न होती है, परंतु यह परिणति उसी में (स्वद्रव्य में ही) समा जाती है। (इसप्रकार परमात्मराजारूप आत्मद्रव्य में परिणामशक्ति अनंत पर्याय शक्ति सहित है।)

वह वर्तमान व्यक्त-प्रगट अपेक्षा से (वर्तमान अपेक्षा से) एक है, अनंत रस को उत्पन्न करती है, स्वरूप का वेदन करके स्वाद में आकर अंतर में एकमेक होकर स्वरूप में निवास करके फिर दूसरे समय में उत्पन्न होती है। स्वरूप के शरीर में प्रवेश करके सुख देकर अंतर्लीन (परिणति) एकमेक हो गई, फिर उत्पन्न होकर दूसरे समय में पुनः सुख देती है। उत्पन्न होकर स्वरूप सुख का लाभ देकर पूर्व पर्याय के व्यय द्वारा स्वरूप में निवास करके ध्रुवता का पोषण करके (पुष्टि करके) आनंद पुंज को प्राप्त करके स्वरस की प्रवृत्ति करनेवाली कामिनी प्रतिसमय नये-नये स्वांग धारण करती है, परमात्मराजा का सर्वांग पुष्ट करती है।

अन्य लौकिक स्त्री तो बल को क्षीण करती है और यह आत्मपरिणतिरूपी स्त्री तो सदा आत्मबल को पुष्ट करती है। लौकिक स्त्री तो कभी-कभी रसभंग करती है और यह चैतन्यपरिणति स्त्री तो सदा-अखंडित रस-आनंद देती है। परमात्मराजा को प्यारी सुख देनेवाली परमरानी अतींद्रिय विलास करनेवाली परिणति परमरमणी को अपनी जानकर स्वयं राजा (-आत्मद्रव्य) भी उससे दुविधापना (मायाचार) नहीं करता, किंतु अपना अंग (-स्वरूप) देकर प्रतिसमय अपने में-अपने अंग में (स्वरूप में) एकाकार कर लेता है। राजा तो परिणति से मिलते ही उसका रंगी (तद्रूप) होता है और परिणति राजा से मिलकर राजा के रंग में रंग जाती है अर्थात् परिणति परमात्मराजा के स्वरूपमय ही होती है; एकरसरूप अनुपम भोग भोगती है। परमात्मराजा और शुद्ध परिणतिरूपी स्त्री का विलास, उसका सुख अपार है, उसकी महिमा अपार है। इस परमात्मराजा का राज्य सदा शाश्वत् है, अचल है—(अनंत, अव्याबाध है।) अनंत वर्णन किया जाये, तब भी

उसका पार नहीं आ सकता। वर्तमान में अल्प बुद्धि होने से विस्तारपूर्वक कथन किया जाये तो समझ में नहीं आता, इसलिये संक्षेप में कहा है। जो गुणवान हैं, वे इस थोड़े को ही बहुत समझ लेंगे, उसी में संपूर्ण आ गया है। समझदार अवश्य समझेंगे।

(सवैया)

परम पुराण लखै पुरुष पुराण पावै,
सही ह्वै स्वज्ञान जाकी महिमा अपार है।
ताकी कियें धारणा उधारण स्वरूप का ह्वै,
ह्वै है निसतारणा सो, लहै भवपार है।
राजा परमात्मा कौ करत बखाण महा,
'दीपक' कौ सुजस बढ़ै सदा अविकार है।
अमल अनूप चिद्रूप चिदानंद भूप,
तुरत ही जानै करे अरथ विचार है॥१॥

(दोहा)

परम पुरुष परमातमा परम गुणन कौ थान,
ताकी रुचि नित कीजिये पावै पद भगवान॥२॥

अपनी प्रभुता को भूलकर पामर हुआ और स्व-हिंसा में रच रहा है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं कि—हे भोले प्राणी! तूने इस पर्याय के पहले सभी कार्य 'अजाकृपाणीयन्यायवत्' किये। जैसे, कोई मनुष्य बकरी को मारने के लिये छुरी चाहता था—परंतु बकरी ने स्वयं ही अपने खुरों से अपने नीचे दबी हुई छुरी निकालकर दे दी, जिससे उसी छुरी से उस मूर्ख बकरी का मरण हुआ; उसीप्रकार जिन कार्यों से तेरा घात हो—बुरा हो, उन्हीं कार्यों को तूने किया; वास्तव में तू हेय-उपादेय के ज्ञान से रहित मूर्ख है।

घात और जीवन किसको कहते हैं, उसके ज्ञान के बिना जीव अपनी ही मूर्खता से अपना ही घात करते हैं। जैसे स्वयं ही अपने नीचे दबी हुई छुरी निकालकर देना, यह जिसप्रकार बकरी के लिये स्वघातक कार्य है; उसीप्रकार इस मनुष्य पर्याय में तुझे विषयादि के सेवन से सुख का आभास होता है, और इसलिये तू ऐसा मान रहा है कि यह सुख अवस्था मेरी ऐसी ही सदा बनी रहेगी, ऐसा समझकर निश्चिंत हो रहा है, किंतु इस विश्वास से तुझे निश्चिंत रहना उचित नहीं है। तेरा यह विचार तेरे लिये ही घातरूप है, इसका तुझे किंचित् भी ज्ञान है ? इन विषयादि के सेवन में सुख है ही नहीं, सुखाभास मात्र है, तथा वह भी क्षणिक है—ऐसा जानकर उसकी मग्नता में अज्ञानता से इस अमूल्य मानव-जीवन का हीन उपयोग मत कर! इससे तेरा ही घात होता है, उसका विचार कर! अपने उपयोग को स्वयं ही मलिन करके अपने ही शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुखादि भावप्राण का नाश करके आनंद मानना, यह उस बकरी जैसा स्वघातक कार्य नहीं तो और क्या है ? परद्रव्य से अपना भला-बुरा होना मानकर, पर को इष्ट-अनिष्ट मानकर, अपने ज्ञान-दर्शनमय उपयोग को बिगाड़ रहा है। ऐसे निरंतर होनेवाले भावमरण में अपना जीवन माने, उसमें आनंद माने, यह स्व-हिंसा नहीं तो और क्या है ?

पूज्य स्वामीजी का विहार समाचार

राजकोट (सौराष्ट्र) तारीख १३-२-६४ श्री कुन्दकुन्दाचार्य की तपोभूमि, समाधिक्षेत्र (-कुन्दाद्रि) तथा तपोभूमि पौन्नूरहिल, श्री बाहुबलीजी (श्रमणबेलगोला) मूड़बिद्री एक हजार यात्री संघ के साथ तीर्थयात्रा करके पूज्य कानजी स्वामी राजकोट पधारे, भव्य स्वागत हुआ। १३ दिन तक धर्म जिज्ञासुजनों को बड़ा भारी आनंद मंगलमय उत्साह उमड़ आया।

प्रवचन में सबेरे जैन धर्म के मर्मी श्री राजमल्लजी कृत समयसार कलश टीका—जिसमें श्री अमृतचंद्राचार्य कृत आत्मख्याति टीका के साररूप कलशों का देश भाषा में स्पष्ट वर्णन है, वह तथा दोपहर श्री नियमसारजी शास्त्र, रात्रि में ४५ मिनिट तक शंका समाधान चलते थे, जिज्ञासु

समाज बड़ी संख्या में यथासमय एकत्र होकर एकाग्रचत्ति होकर हमेशा लाभ लेते थे, यह मुख्य कार्यक्रम देखते ही बनता था।

[बाहर गाँव से इस उत्तम अवसर का लाभ लेनेवालों के लिये हर साल माफिक उत्तम व्यवस्था थी, यहाँ नवदीक्षित दिगम्बर जैन बंधुओं की संख्या हर साल बढ़ती जा रही है, परस्पर साधर्मी वात्सल्य, स्वाध्याय का प्रेम, शास्त्र सभा (जो तीन बार होती है) में नित्य आना आदि आदर्श पद्धति प्रशंसनीय है।]

राजकोट में समवशरण तथा मानस्तंभजी-शिलान्यास फाल्गुन सुदी ३ शिलान्यास की विधि के समय बाहर गाँव से आमंत्रित मेहमान बड़ी संख्या में पधारे थे, मंडप में श्रीजी को तथा यंत्रजी को विराजमान करके पूजन जाप्य आदि सब कार्यक्रम बड़े उमंग सहित हुआ, पूज्य स्वामीजी के शुभहस्त से नींव भरने की ईंटों पर स्वस्तिक लिखाया, बाद मंगल पाठ का स्वामीजी ने उच्चारण किया, बाद माननीय प्रमुख श्री रामजीभाई तथा श्री खेमचंदभाई सेठ, श्री मणिभाई सेठ, श्री मोहनभाई घीया, श्री लाखाणी परिवार, श्री जसाणी परिवार, श्री नवनीतभाई, श्री लालचंदभाई, डॉ. चन्दुभाई, डॉ. नवरंगभाई आदि ने तथा अनेक बहिनों ने इस मंगल विधि में भाग लिया, सब मिलकर दो लाख बीस हजार करीब का चन्द हुआ। राजकोट दिगम्बर जैन समाज को धन्यवाद।

तारीख १५ की रात्रि को पूज्य स्वामीजी दक्षिण यात्रा पधारे और भींवड़ी शहर में भव्य उत्सव हुआ वह तथा पौन्नूर तीर्थक्षेत्र में अनेक हजार यात्री सहित पूज्य स्वामीजी भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के चरणों का शुद्ध जल से अभिषेक कर रहे हैं तथा स्वयं पूजन पाठ करा रहे हैं, अर्घ्य चढ़ा रहे हैं, यह विधि तथा प्रवचन तथा अपूर्व आनंदमय हृदय से दिगम्बर आचार्यों के प्रति अपार भक्ति श्रद्धांजलि देकर उन्हीं का अनेकविध स्मरण करके गुणानुवाद किये। इन सब भावों सहित फिल्म ली गई थी, वह फिल्म राजकोट में बताई गई, सोनगढ़ में भी बताई थी।

राजकोट में पूज्य स्वामीजी का विशेष कार्यक्रम

तारीख २०-२-६४ प्रार्थना करने पर गूंगे-बहिरे महिला विकास गृह नामक संस्था में पधारे थे।

तारीख २१ अंध महिला विकास गृह में पधारे यहाँ तो पूज्य स्वामीजी ने उपदेश दिया था, अहो! दुर्लभ मनुष्यत्व पाया, बाह्य में अंधत्व होने पर भी देह से भिन्न अंदर नित्य ज्ञायक वस्तु का

स्वरूप क्या है, हित-अहित और उसका कारण क्या है, उस बात का श्रवण-ग्रहण और धारणा करके सत्य समझने की योग्यता इस समय भी है। सच्ची अहिंसा किसे कहना यह समझाया, ...जीव को अंधत्व और चक्षु तो अनंत बार मिले किंतु देह से और राग-द्वेष मोह से भिन्न अंतरंग में प्रगट चैतन्य ज्योति स्वरूप का अवलोकन करने का ज्ञानचक्षु वह साधन है, उसे प्राप्त करना चाहे तो वह कर सकते हैं। बाद कहा कि मैं तो मेरे वैराग्य के लिये यहाँ आया हूँ, बाद अंध महिलाओं द्वारा भजन हुए, बाद चंदा हुआ।

तारीख २४-२-६४ फाल्गुन सुदी १२ जिन मंदिर की वर्षगांठ होने से हर साल के माफिक मंदिरजी के ऊपर ध्वजारोहण विधि, पूजन, जिनेन्द्र रथयात्रा बाद कलशाभिषेक, पूनज, प्रीतिभोज, बड़ा उत्सव मनाया गया।

तारीख २४ सरकारी जेल में १५० उपरांत कैदियों को दर्शन व उपदेश देने की प्रार्थना आने से पूज्य स्वामीजी वहाँ पधारे थे। उत्तम उपदेश सुनकर सभी को आनंद हुआ।

[अष्टाह्निका धर्म पर्व होने से मंदिरजी में मंडल विधान में बावन जिनालय पंच मेरु अहादि के मांडले मंडप सहित सजाकर हमेशा ठाट-बाट से समूह पूजन होता था—दोपहर में हमेशा ४। से —४॥। जिन मंदिर में समूह भक्ति होती थी।]

★

नया प्रकाशन

योगीन्द्रदेव आचार्यकृत **योगसार दोहा,** और भैया भगवतीदास तथा कविवर श्री बनारसीदासजी कृत **निमित्त-उपादान दोहा,** तत्त्वज्ञान समझने में तथा याद करने में बड़ी सुगम और रोचक होने से थोक मंगाकर सभी जिज्ञासुओं में बांटने योग्य है, नित्य स्वाध्याय करने योग्य है। बहुत बड़े टाइप व बढ़िया कागज में छपा हुआ है। पृष्ठ २४, मूल्य ०-१२। पोस्टेज अलग।

मंगाने का पता—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

—नया प्रकाशन—

श्री समयसारजी परम अध्यात्म-शास्त्र

(तीसरी आवृत्ति)

भगवन श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्र, श्री अमृतचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़।

यह अद्वितीय जगतचक्षु समान आध्यात्मिक ग्रंथाधिराज है, परिभाषण पद्धति से जो सूत्र रचना हो, वह सर्वोत्तम मानी जाती है। जैसी मूल सूत्रों की सर्वोत्तम रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की हे, ठीक वैसी ही आत्मख्याति नामक टीका सर्वोत्तम है, वीतरागता, और स्वतंत्रता ग्रहण करने की रुचि से पढ़ने से उसका रसास्वाद आता है।

जिसमें ज्ञानी-अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेदविज्ञान, नवतत्त्वों का रहस्य खोलनेवाले सात अधिकार, कर्ताकर्म, सर्वविशुद्धज्ञान, अनेकांत, ४७ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्यसाधक भाव का स्वरूप आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। उस पर सातिशय प्रचंड निर्मल, तत्त्वज्ञान के धारक अजोड़ महर्षि श्री अमृतचंद्राचार्य की सर्वोत्तम संस्कृत टीका है। अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीवों को भी जिसमें समझाया गया है। हिन्दी अनुवाद, तीसरी आवृत्ति, इस ग्रंथ में गाथाएँ लाल स्याही से छपी हैं, कुछ गाथाएँ सुनहरी कलर में हैं। बढ़िया कागज पर सुंदर ढंग से छपने पर भी मूल्य लागत से भी बहुत कम रखा है, सभी जिज्ञासु यथार्थतया लाभ लेवें, ऐसी भावनावश इस ग्रंथाधिराज का मूल्य ५) रुपया रखा है। पोस्टेजादि अलग। पृष्ठ संख्या ६४१ बड़े आकार के हैं।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[नोट—यह शास्त्र बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, भोपाल, सागर, उज्जैन, विदिशा, लश्कर, इन्दौर, उदयपुर, गुना, अशोकनगर आदि गाँवों में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा प्राप्त हो सकेंगे।]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	जैन बाल पोथी	०-२५
प्रवचनसार	प्रेस में	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
नियमसार	५-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
पंचास्तिकाय	४-५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तीसरी आवृत्ति)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
द्वितीय भाग	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
तृतीय भाग	०-६०	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन		जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
बृ० पूजा भाषा	०-७५		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।